

ISSN-0972-1002

# श्रमण ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

Vol. LIX

No. III

July-September 2008



Jain Education International

Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

For Private & Personal Use Only

[www.jainelli.org](http://www.jainelli.org)

# श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology

---

Vol. LIX

No. III

July - September 2008

---

*Editor*

*Hindi Section*

**Dr. Vijaya Kumar**

*English Section*

**Dr. S.P. Pandey**

*Publisher*



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**

*Recognized by Banaras Hindu University  
as an external Research Centre*

---

**श्रमणः**

जैनशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

**Śramaṇa:**

A Quarterly Research Journal of Jainology

**Vol. LIX**

**No. III**

**July-September 2008**

ISSN-0972-1002

***Subscription***

***Annual membership***

For Institutions: Rs. 250.00

For Individuals: Rs. 200.00

Per Issue Price: Rs. 50.00

***Life Membership***

For Institutions: Rs. 1500.00

For Individuals: Rs. 500.00

*Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of Parshwanath Vidyapeeth*

***Published by*** : Parshwanath Vidyapeeth

I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005

Ph. 911-0542-2575521, 2575890

***Email*** : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

pври@sify.com

***Website*** : www.parshwanathvidyapeeth.org

***Type Setting by*** : Add Vision

Karaundi, Varanasi-221005

***Printed at*** : Vardhaman Mudranalaya

Bhelupur, Varanasi-221010

**Note** : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

# श्रमण

जुलाई-सितम्बर २००८

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. कीट-रक्षक सिद्धान्त का नैतिक आधार :	प्रो० एस० आर० व्यास	१-७
२. एक उदार दृष्टिकोण का पक्षधर है :		
जैन दर्शन का 'स्याद्वाद'	डा० सुरेन्द्र वर्मा	८-१०
३. जैनागम में 'पाहुड' का महत्त्व :	डा० ऋषभचन्द्र जैन	११-१४
४. जैनशास्त्रों में विज्ञानवाद :	डा० कमलेश कुमार जैन	१५-२३
५. वर्तमान संदर्भ में अनेकान्तवाद की प्रासंगिकता :	डा० श्याम किशोर सिंह	२४-२८
६. पदार्थ बोध की अवधारणा :	डा० जयन्त उपाध्याय	२९-३६
७. अपभ्रंश जैन कवियों का रसराज-'शांत रस' :	डा० शंभु नाथ सिंह	३७-४२
८. पाश्चात्य एवं जैन मनोविज्ञान में मनोविक्षिप्तता एवं उन्माद :	डा० साधना सिंह	४३-५२
९. जैन दर्शन में जीव का स्वरूप :	नीरज कुमार सिंह	५३-५९
१०. उदारवादी जैन धर्म-दर्शन : एक विवेचन :	डा० द्विजेन्द्र कुमार झा	६०-७०
११. भारत की सांस्कृतिक यात्रा में श्रमण संस्कृति का अवदान	डा० विनोद कुमार तिवारी	७१-७४
१२. मिथिला और जैन धर्म :	डा० अशोक कुमार सिन्हा	७५-७८
१३. जैन दर्शन में निक्षेपवाद : एक विश्लेषण :	नवीन कुमार श्रीवास्तव	७९-८३

## ENGLISH SECTION

14. The role of Jainism in Evolving a Global Ethics	Dr. Sohan Raj Tater	85-90
15. Individual and Society in Jainism	Dr. C. Krause	91-116
16. Contribution of Buddhism and Postmodernism to Society	Dr. Ram Kumar Gupta	117-122
१७. पार्श्वनाथ विद्यापीठ के प्राङ्गण में		१२३-१२९
१८. जैन जगत्		१३०-१३२
१९. साहित्य सत्कार		१३३-१३६
२०. प्रकाशन सूची		१३७-१५२
२१. सुरसुन्दरीचरित्रं	श्रीमद्भनेश्वर सूरि	३२१-३९८



## हिन्दी खण्ड

- कीट-रक्षक सिद्धान्त का नैतिक आधार : प्रो० एस० आर० व्यास
- एक उदार दृष्टिकोण का पक्षधर है :  
जैन दर्शन का 'स्याद्वाद' डा० सुरेन्द्र वर्मा
- जैनागम में 'पाहुड' का महत्त्व : डा० ऋषभचन्द्र जैन
- जैनशास्त्रों में विज्ञानवाद : डा० कमलेश कुमार जैन
- वर्तमान संदर्भ में अनेकान्तवाद की प्रासंगिकता : डा० श्याम किशोर सिंह
- पदार्थ बोध की अवधारणा : डा० जयन्त उपाध्याय
- अपभ्रंश जैन कवियों का रसराज-'शांत रस' : डा० शंभु नाथ सिंह
- पाश्चात्य एवं जैन मनोविज्ञान में मनोविक्षिप्तता एवं उन्माद : डा० साधना सिंह
- जैन दर्शन में जीव का स्वरूप : नीरज कुमार सिंह
- उदारवादी जैन धर्म-दर्शन : एक विवेचन : डा० द्विजेन्द्र कुमार झा
- भारत की सांस्कृतिक यात्रा में श्रमण संस्कृति का अवदान : डा० विनोद कुमार तिवारी
- मिथिला और जैन धर्म : डा० अशोक कुमार सिन्हा
- जैन दर्शन में निक्षेपवाद : एक विश्लेषण : नवीन कुमार श्रीवास्तव

## कीट-रक्षक सिद्धान्त का नैतिक आधार

प्र० एस० आर० व्यास\*

विश्व की सर्वोत्तम निधि 'जीवन' है जो चारों ओर विविध रूपों में अभिव्यक्त है। इस अभिव्यक्ति से विश्व में रस, ऊर्जा एव आनंद की बहुरंगी छटा अनुभूत होती है। जीवन को अभिव्यक्त करने वाले प्राणियों में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो बुद्धि एवं क्षमता में अन्य अभिव्यक्त जीवन-रूपों में विशिष्ट है। विशिष्ट होने के इसी दम्भ ने मनुष्य को शासक, आक्रान्ता और अधिकार-शोषक बना दिया है जिसका परिणाम है कि स्वयं उसकी अपनी स्थिति विनाश के कगार पर आ पहुँची है।

जैन धर्म-दर्शन विनाश के कगार पर खड़े इस मनुष्य को बचाने एवं उसे उसके वास्तविक गन्तव्य की ओर प्रेरित करने का वह आह्वान है जो सदियों पूर्व किया गया था, किन्तु जिसे मनुष्य ने अपनी स्वार्थपूर्ण दौड़ और विज्ञान की उपलब्धियों की विजय-दुंदुभियों के बीच अनसुना कर दिया। दौड़ जारी रखते हुए और उपलब्धियों को बटोरते हुए जब वह विनाश के कगार के समीप आ गया तब उसे लगा कि यह सब कैसे हो गया है? इतनी सुख-सुविधा और आराम देने वाला यह रास्ता अन्त में इतना कसैला, विषैला और कंटीला कैसे हो गया? अणुबम और नाभिकीय शस्त्रों को हाथ में लेकर प्रकृति को ललकारने वाला मनुष्य आज पानी, छाया और हवा के लिए तरस रहा है? हजारों सांसों को खत्म करके, हजारों जीवनों को मौत में बदलने के बाद भी वह खुद घुट-घुटकर सांसे ले रहा है, फिर उस सबका क्या मतलब है जिसे बनाने-संवारने में उसने शताब्दियां लगा दीं? करोड़ों रुपये खर्च करके बनाए गये सीमेंट-कंक्रीट के जंगलों के बीच यदि उसके कान पक्षियों की चहचहाहट के लिए, आँखे हरियाली के लिए और नाक ताजी बयार को हृदय में भरने के लिए तरस जाए तो क्या वे करोड़ों रुपये कौड़ियों के बराबर नहीं हो गये? ऐसा क्यों हो रहा है? चन्द्रमा और मंगल ग्रह की दूरियां नापनेवाला मनुष्य अपनी ही कदमों की गति नापना, दिशा निर्धारित करना क्यों भूल गया?

जैन धर्म-दर्शन तारों, नक्षत्रों और ग्रहों पर उड़ने वाले मनुष्य के कदमों को सही पगडंडी पर चलने का संकेत देता हुआ ऐसा मार्ग-पट्ट है जो पथिक को यह विश्वास दिलाता है कि यदि वह उसके अनुसार चलता रहा तो अवश्य ही उसे मंजिल मिल

\* पूर्व सदस्य सचिव, अखिल भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

जाएगी।<sup>१</sup> ये मार्ग-पट्ट उन तीर्थंकरों द्वारा स्थापित हैं जो सभी झंझावातों को सहकर मंजिल पा चुके हैं<sup>२</sup> और प्रत्येक मनुष्य को भटकाव से बचाने के लिए मार्ग-पट्ट पर लिखित रूप में विद्यमान हैं। प्रश्न यह है कि ये मार्ग-पट्ट क्या प्रतिपादित करते हैं?

यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि जीवन विविधरूपी प्रवाह है जो प्रकृति में व्याप्त है। जीवन अर्थात् चेतना अर्थात् प्राण और जो इस प्राण को निहित रखता हो वह प्राणी है? प्राणी अपने अस्तित्व के लिए अन्य प्राणियों पर आश्रित है यह बात जैन दर्शन शताब्दियों पूर्व स्थापित कर चुका है। यहाँ आवश्यकता के लिए आश्रित होना और अस्तित्व के लिए आश्रित होने में भेद है। आधुनिक व्यवसायपरक दृष्टि पारस्परिक आश्रितता को तो स्वीकार करती है, किन्तु केवल आवश्यकता के आधार पर (Need based dependence)। जैन दृष्टि में पारस्परिक आश्रितता का आधार अस्तित्वगत है (Pre-existential dependence)। जब आवश्यकता के आधार पर निर्भरता को स्वीकार किया जाता है तो उसमें मूल्य केन्द्रीय नहीं होता, जबकि अस्तित्वगत निर्भरता में मूल्य केन्द्रीय है।<sup>३</sup> यही कारण है कि जैन दर्शन 'परस्परोपग्रहोजीवानाम्' की मान्यता प्रस्तुत करता है। अस्तित्वगत आश्रितता प्राणियों में समता को स्वीकार करती है<sup>४</sup> जिसका अर्थ यह है कि गुण, क्षमता, शक्ति और आकार में भिन्न होने पर भी विभिन्न प्राणियों में सारभूत समता है और मुधमक्खी जैसे लघु आकारी, कम शक्ति-सामर्थ्य वाले प्राणी तथा सिंह जैसे बृहद् आकारी एवं शक्तिमान प्राणी के अस्तित्व का समान महत्त्व है। ठीक यही बात मनुष्य के अस्तित्व पर भी लागू होती है।

सबसे बुद्धिमान, विजयी, विवेकी और शक्तिशाली होने पर भी मनुष्य अपने अस्तित्व के लिये अपने से बहुत ही निम्न, निरीह एवं निकृष्ट प्रतीत होने वाले प्राणियों पर निर्भर है। इनमें हम कीट-पतंगों को सम्मिलित कर सकते हैं। पृथ्वी पर उड़नेवाले अथवा पृथ्वी में पैदा होने वाले विभिन्न जाति-प्रजातियों के कीट-पतंगों को हम व्यर्थ की उत्पत्ति मानते हैं।<sup>५</sup> मच्छर, भौर, केचुएं, केटरपीलर, टिड्डी, रेशम के कीड़े, चीटियाँ, मकोड़े, छिपकली, अमीबा और ऐसे कितने प्रकार की कीटों के नाम लिये जा सकते हैं जो विभिन्न प्रजातियों में पाये जाते हैं।

मनुष्य ने इन कीट पतंगों को व्यर्थ की उत्पत्ति मानकर इन्हें स्वयं के जीवन में बाधक माना और इन्हें खत्म करने के लिये अनेक प्रयोग-अनुसंधान कर डाले। कई रसायनों, मिश्रणों के आधार पर औषधियों का निर्माण किया गया और कीट पतंगों से पृथ्वी को मुक्त करने का अभियान चलाया गया। माना गया कि मनुष्य का घर या उसका शहर केवल उसके लिये होना चाहिए किसी अन्य प्राणी के लिए वह किसी भी हालत में 'घर' न बन जाय, इसलिए ज्ञान-विज्ञान की सारी कुशलता खर्च कर दी गयी।

कीट-मुक्त आवास आधुनिक जीवन शैली का पर्याय बन गया। दूसरी ओर इन्हीं प्राणियों को खाद्य-सामग्री के रूप में मनुष्य की स्वाद लिप्सा का शिकार होना पड़ा। मेढक और केचुएँ का अचार, साँप-केंकड़े के कटलेट्स तो विदेशी व्यंजनों में शीर्ष स्थान पर हैं, जिनका सबसे बड़ा निर्यातक भारत है। किन्तु कीटों के इस संहार ने जिस खतरे को उत्पन्न किया वह इतना भयावह है कि स्वयं मनुष्य को ही लीलने के लिए तैयार है।<sup>१०</sup>

कीटों के विनाश से जैविक-चक्र में जो व्यवधान आते हैं वे अन्य प्राणियों में विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं और वे विकृतियाँ अन्य प्राणियों में जैविक-असंतुलन उत्पन्न कर देती हैं। इस असंतुलन का सीधा प्रभाव स्वयं मनुष्य पर विपरीत रूप में पड़ता है। फलतः मनुष्य एक स्व-विनाशी प्राणी बन जाता है जिसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। जैन दर्शन व्यक्ति को इस स्व-विनाश से सुरक्षित होने का मार्ग प्रशस्त करता है।<sup>११</sup>

प्राणियों में सारभूत समता स्वीकारते हुए जैन दर्शन का मानना है कि प्राणी कैसा भी हो- विषैला, हिंसक अथवा भयावह, वह मनुष्य के द्वारा अहिंस्य है।<sup>१२</sup> अहिंसा इसलिये, क्योंकि उसके प्रति हिंसा किये जाने पर वह वेदना पायेगा जो कर्ता में कर्मबंध उत्पन्न करेगा। अतः प्राणियों की हिंसा से व्यक्ति को विरत रहना चाहिए।<sup>१३</sup>

यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि वेदना के कारण हिंसा नहीं की जानी चाहिये, ठीक है, किन्तु जो एकेन्द्रिय जीव हैं उन्हें किसी संवेदना या कष्ट का अनुभव नहीं होता है जैसा कि एक से अधिक इंद्रिय रखनेवाले प्राणी को होता है। अतः एकेन्द्रिय प्राणी को अहिंस्य क्यों माना जाय ?

समाधान स्वरूप जैन धर्म-दर्शन कहता है कि चाहे एकेन्द्रिय प्राणियों में वेदनानुभूति की क्षमता कम होती हो फिर भी वे अवध्य हैं, क्योंकि प्राणी होने के कारण उनमें वेदना होती है चाहे ज्ञातरूप में वह प्रत्यक्ष न होती हो, जैसे अंधे, बधिर, मूक और पंगु मनुष्य को दुःख देने पर उसे कष्ट का अनुभव होता है वैसे ही अन्य इंद्रियों के न होने पर भी एकेन्द्रिय जीव को कष्ट होता है।<sup>१४</sup> पृथ्वी के कीटादि को कष्ट देने पर उन्हें होने वाली वेदना दिखाई नहीं देती है, किन्तु उन्हें वह वैसे ही अनुभूत होती है जैसे एक जर्जरित पुरुष के सिर पर किसी बलिष्ठ व्यक्ति के प्रहार करने पर उस पुरुष को वेदना की अनुभूति होती है।<sup>१५</sup>

मनुष्य के भौतिक बहुमुखी विकास के जहाँ सकारात्मक परिणाम सामने आए हैं वहीं कुछ नकारात्मक उपलब्धियाँ भी हुई हैं। इनमें से प्रमुख हैं- मनुष्य में स्वयं को 'विशेष' प्राणी मानने का भाव, जिसके कारण उसने अपने जीवन, इच्छा एवं प्रयोजनों



को अतिरिक्त महत्त्व दिया।<sup>१३</sup> पूरी पृथ्वी और अब तकनीकी विकास के बाद तो अन्य ग्रह भी जैसे उसी की इच्छाओं की पूर्ति के लिये हैं। वह जहाँ उचित समझे वहाँ बांध बनाए, कारखाने लगाए, नदियों को मोड़ दे, बस्ती बसाए और चाहे जैसे प्रयोग-अनुसंधान करे। प्रकृति की सम्पदा का जैसे उसने एकाधिकार पा लिया हो। क्या पृथ्वी का मात्र मनुष्य ही अधिकारी है? वे सब अन्य प्राणी जो मूक, निरीह, दुर्बल और अबोध हैं क्या पृथ्वी पर उनका कोई अधिकार नहीं है? अपने दिशाहीन किन्तु गर्वीले प्रयोजनों की पूर्ति हेतु मनुष्य को हवा, पानी, जंगल, नदी, पहाड़ आदि से मनचाहा खिलवाड़ करने की स्वीकृति क्या नैतिक मानी जा सकती है? मनुष्य ने स्वीकृति की प्रतीक्षा कहाँ की? उसने वह सब कुछ किया जो उसे नहीं करना चाहिए था। प्रकृति से इस तरह का खिलवाड़ कर सकने के पीछे मनुष्य की यह धारणा आधार रही है कि प्रकृति निर्जीव और मूक पदार्थ है, एक वस्तु की तरह है।<sup>१४</sup> इसलिये उसके साथ कैसा भी व्यवहार क्यों न किया जाय, सब सही है।

जैन धर्म-दर्शन मनुष्य द्वारा प्रकृति को निर्जीव एवं मूक मानने के विरुद्ध है।<sup>१५</sup> उसकी स्पष्ट घोषणा है कि अनेक सूक्ष्म, अगोचर एवं लघु जीवों की चेतना से यह प्रकृति स्पन्दित है। इसमें चारों ओर जीवन, प्राण छलछला रहा है, वहाँ भी जहाँ तक दिखाई देता है और वहाँ भी जहाँ तक दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में इसे निर्जीव कैसे कहा जा सकता है? इसलिये जैन दर्शन चलने-फिरने से लेकर बड़े से बड़ा काम करने में प्रकृति की सजीवता को ओझल नहीं होने देता।<sup>१६</sup> उसका आग्रह है कि मनुष्य इस सजीवता के संदर्भ में ही अपने रहने-सोने-खाने-पीने और बातचीत के तौर-तरीके अपनाए। जैन दर्शन के लिये इस 'सजीवता की शैली' को अपनाना मात्र आदर्श नहीं, अपितु व्यवहार की अनुभूति है। एक सुदीर्घ परम्परा कई शताब्दियों को लॉघकर हमारे आणविकी युग में भी प्रवहमान है जो यह सिद्ध करती है कि प्रमाद के कारण किसी बात को न अपना पाना उस बात की निरर्थकता प्रतिपादित नहीं करती है, अपितु उसकी अक्षमता दर्शाती है जो उसे अपना न सकी। जैन परम्परा जीवन को सधे धरातल पर, स्पन्दित प्रकृति में जाग्रत होकर जीने की परम्परा है जिसमें पर्यावरण और प्राणी दोनों ही न केवल सुरक्षित हैं, अपितु निर्भय जीवन बिता पाने के लिये स्वतंत्र एवं अधिकारी हैं। विश्व के किसी धर्म-दर्शन ने प्राणियों को ऐसा शाश्वत अधिकार-पत्र नहीं दिया है जैसा जैन धर्म-दर्शन ने दिया है।

जब सम्पूर्ण प्रकृति एवं प्राणियों के प्रति जैन धर्म-दर्शन का इतना अपनत्वपूर्ण दृष्टिकोण है, तो कीटादि के प्रति भी वैसा ही अपनत्वपूर्ण होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इस अपनत्वपूर्ण दृष्टिकोण का आधार मात्र भावनात्मक नहीं है अपितु इसमें नैतिक उत्तरदायित्व निहित है।<sup>१६</sup>

जैन दर्शन की मान्यता है कि अस्तित्व सहभागितापूर्ण होता है। अस्तित्व की एकलता बहुतत्त्ववादी जैन दर्शन में अप्राप्य है। जब अस्तित्व अनेकात्मक है तो यह सिद्ध है कि जीवन भी विविधरूपी है। चेतना के आधार पर किसी एकरूपीय जीवन को किसी अन्यरूपीय जीवन से श्रेष्ठ या निम्न नहीं ठहराया जा सकता है। केवल इतना कहा जा सकता है कि जीवन-जीवन समान है, ठीक वैसे ही जैसे दूसरी कक्षा पास करने वाले विद्यार्थी की खुशी और आठवीं कक्षा पास करने वाले विद्यार्थी की खुशी में मात्रा-भेद नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उनमें मात्र कक्षा-भेद हैं। परीक्षा में 'पास होने की खुशी' दोनों में समान है। इसी तरह दो प्रकार के पृथक् जीवनों का जीवनगत मूल्य समान है और इस समानता के आधार से एक की अपेक्षा दूसरे को श्रेष्ठ मान लेना नैतिक दृष्टि से अवांछित है- चाहे वह कीट का जीवन ही क्यों न हो।

दूसरी बात यह है कि 'व्यर्थ की उत्पत्ति' के रूप में देखे जाने वाले कीटों को जब स्वयं की इच्छापूर्ति के लिये समाप्त कर दिया जाता है तो व्यक्ति की चेतना भी परिवर्तन नियम की भाँति उससे (हिंसित) आच्छादित हो जाती है।<sup>१७</sup> भले ही किसी प्राणी की की गयी हत्या के कारण रक्त के छीटें चाहे जमीन पर गिरे दिखते हों, लेकिन बंधन के कर्म-परमाणु रूपी छीटें हिंसा करने वाले व्यक्ति की चेतना पर भी गिरते हैं और उसकी चेतना को कैदी बना लेते हैं। यह चेतना का बंधन, जंजीरों और सलाखों के बंधन से कहीं अधिक मजबूत होता है। यह अदृश्य और समयावधिगत होता है।<sup>१८</sup> जैन दर्शन की मान्यता है कि मौलिक ज्ञान के अभाव में व्यक्ति उन जंजीरों को देख नहीं पाता है जो अदृश्य रूप में उसकी चेतना को बंधक बनाने के लिये तैयार हैं। अतः इन अदृश्य जंजीरों से बचने के लिए व्यक्ति को प्राणीहिंसा, जिसमें कीटनाश भी सम्मिलित है, न करने की सलाह से जैन साहित्य भरा हुआ है।

यह तो स्थापित तथ्य है कि व्यक्ति सभी प्रकार के कार्य स्वयं के लिये या अपने प्रियजन के लिये करता है। किन्तु उसमें यह विवेक नहीं होता कि वह खुद के रूप में जिसे मान रहा है वह उसका शरीर, मन आदि नहीं है, अपितु उसकी अविनाशी चेतना है।<sup>१९</sup> इस चेतना को स्वयं का न मानकर वह शरीरादि को ही स्वयं का मानता है और उसी के लिये, उसी के सुख-चैन के लिये जीवन भर चाहे-अनचाहे कार्यों को करता रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो उसकी अपनी वस्तु है, उसकी दुर्दशा होती रहती है। जैन दर्शन व्यक्ति को उसका वास्तविक 'स्वामी' बनाना चाहता है, उसके स्वामित्व को लौटाना चाहता है।<sup>२०</sup> यदि व्यक्ति को यह पता चले कि वह कीटादि की हिंसा करके मात्र दिखावटी स्वामी ही बन पाएगा जो यहाँ कुछ सालों के लिये ही है, बदले में उसे स्वयं गुलाम बनना है तो शायद वह स्वयं के लिये या जिसे वह स्वयं जैसा प्रिय मानता है, उनके लिये हिंसक कार्यों को करना बंद कर दे। किन्तु मनुष्य में यह विवेक कब आएगा, यह कहना संभव नहीं है।

आधुनिक अनुसंधानों ने यह तो प्रतिपादित कर ही दिया है कि चाहे कीटनाश से व्यक्ति का आगामी जीवन बिगड़े या न बिगड़े किन्तु उसका वर्तमान जीवन तो बिगड़ ही जाएगा, बल्कि बिगड़ रहा है। कीटनाश से जैविक-चक्र में जो व्यतिक्रम आया है वह चौकाने के साथ-साथ हमें चेताने वाला भी है कि यदि यही गति रही तो कीटनाश हमारे स्वनाश में परिवर्तित हो जाएगा। कीट जिसे भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं, कीटों के विनाश के कारण वे भोजन में विष व प्रदूषण उत्पन्न करेंगे। इससे अन्य जीव-जन्तु प्रभावित होंगे क्योंकि कीट जिनके भोज्य थे वे अपने भोजन बिना स्वयं नष्ट होंगे अथवा असंतुलित व्यवहारी होकर जैसा-तैसा खायेंगे। इससे विकृतियाँ बढ़ेंगी और वे मनुष्य में बीमारी और असामान्यता के रूप में प्रगट होंगी। अतः कीटनाश व्यक्ति के स्वयं के नाश का आमंत्रण है।

यदि कीट-रक्षक सिद्धांत के नैतिक पक्ष के आधारों को एक क्षण के लिये कमजोर मान भी लिया जाय, तो भी यह कहना गलत नहीं होगा कि कीटों की रक्षा उसके हित के लिए भले न की जाय, किन्तु उसकी रक्षा से यदि स्व-रक्षा होती है तब तो कीटरक्षा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। स्वयं की रक्षा से अन्य की भी रक्षा हो जाती हो तो ऐसी स्थिति में 'स्वार्थ' भी वरेण्य है, अनुपालनीय है। यह सबसे बड़ी नैतिकता होगी।

जैन धर्म-दर्शन इस 'स्व' में समस्त 'पर' को देखने की चेष्टा है। 'एक को जानना सबको जानना है'<sup>२९</sup> का सूत्र इसी मशाल को प्रज्वलित किए हुए है। जैन धर्म-दर्शन जीवन को संग्राम नहीं मानता, क्योंकि संग्राम मारकाट, हार-जीत, छल-कपट और गर्व-हताशा को चित्रित करता है, वह तो जीवन को ऐसा ग्राम मानता है जहाँ सभी बिरादरियों में मैत्री, करुणा, सौहार्द के साथ शांति हो, जहाँ समता की चौपाल हो। आनेवाले मनुष्य को संग्राम की नहीं ऐसे ही ग्राम की आवश्यकता होगी जिसका अभी तक चाहे निर्माण न हुआ हो किन्तु उसका नक्शा जैन धर्म-दर्शन के पास सुरक्षित है। जब हम सब इस नक्शे के अनुसार जीवन को संग्राम बनाने के बजाय ग्राम बनाने का सच्चा संकल्प लेंगे तभी वैश्विक स्तर पर समता और शांति की स्थापना होगी।

**सन्दर्भ :**

१. से दिट्टपहे मुणी । आचारो, ३/१/२/३७, पृ० १३१
२. वही, ९/४/१६ पृ० ३४१
३. समणसुत्तं, १४८
४. Titus, *Living Issues*, P.78

५. समयं लोगस्स जणिता एत्थसत्थोवरण। आचारो, ३/१/३ पृ० १२३
6. Dwivedi, *World Religions and Environment*, P.132
7. Skinner, *Beyond Science*, P. 91
८. समणसुत्तं, १५१, १५२, पृ० ४९
९. आचारो, १/५/९१, पृ० २९
१०. वही, १/५/९२, पृ० २९
११. वही, १/२/२८-३०, पृ० ११
१२. वही, टिप्पण, पृ० ५९
13. Dwivedi, *World Religions and Environment*, P. 57.
१४. आचारो, १/६/११९, पृ० ३७
१५. वही, १/६/१७७, पृ० ५१
१६. वही, २/१/२२, पृ० ७५
१७. पुरुषार्थसिद्धियुपाय, १२
१८. तत्त्वार्थसूत्र, ८:३
१९. समणसुत्तं, १८९, पृ० ६१
२०. वही, ५६६, पृ० १७९
२१. आचारो, ३/३/५२-३, पृ० १३५



## एक उदार दृष्टिकोण का पक्षधर है- जैन दर्शन का 'स्याद्वाद'

डा० सुरेन्द्र वर्मा\*

जनमानस में यह एक सामान्य धारणा है कि जैन दर्शन के प्रवर्तक स्वामी महावीर थे। किन्तु जैन परम्परा महावीर को जैन शिक्षकों की एक लम्बी शृंखला, जिसमें चौबीस तीर्थकरों का उल्लेख है, के अंतिम पायदान पर स्थित करती है। ऋषभदेव से पार्श्वनाथ तक तेईस तीर्थकर माने गए हैं। महावीर का स्थान चौबीसवाँ है। इन तीर्थकरों में हम अधिक से अधिक तेईसवें और चौबीसवें (क्रमशः पार्श्वनाथ और महावीर) को ही ऐतिहासिकता प्रदान कर सकते हैं। शेष सभी प्रागैतिहासिक हैं। पार्श्वनाथ, जो संभवतः ई० पू० आठवीं शताब्दी में जीवित रहे होंगे, की शिक्षाओं को महावीर ने एक नया जीवन दिया था और आज इसीलिए वे सामान्यतः जैन दर्शन के उद्घोषक माने जाते हैं।

जैन दर्शन का एक बहुत सुन्दर और व्यावहारिक सिद्धांत 'स्याद्वाद' है। यदि कोई इस सिद्धांत को अपने जीवन में उतारता है तो समझना चाहिए कि वह अपनी आंतरिक स्वतंत्रता और उदारदृष्टि को अभिव्यक्ति दे रहा होता है। स्याद्वाद के अनुसार हम अपनी वार्ता में जो भी कथन करते हैं, वे सभी सापेक्ष होते हैं। निरुपाधि या निरपेक्ष कुछ भी नहीं है। हमारा हर कथन पात्र और परिस्थितियों, समय और संदर्भों से जुड़ा होता है। उसकी सत्यता केवल विशेष परिस्थिति और संदर्भ में देखी जा सकती है। इसीलिए जैन दर्शन के अनुसार हमें अपने हर कथन के आगे 'स्यात्' जोड़ देना चाहिए। 'स्यात्' संस्कृत धातु 'अस्' से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है- 'हो सकता है।' इसका आशय यह है कि विश्व को हम अनेक दृष्टिकोणों से देख सकते हैं और हर दृष्टि सोपाधिक है। दृष्टि से स्वतंत्र किसी भी वस्तु का मूल या यथार्थ स्वभाव क्या है, कैसा है- कोई नहीं बता सकता। हर दृष्टिकोण एक सीमित दृष्टिकोण है। हम सब ठीक उन अंशों की तरह हैं जो हाथी के किसी एक हिस्से को छूकर तदनुसार उसका वर्णन करते हैं। जो उसका कान पकड़ लेता है वह हाथी को सूप की तरह बताता है, जो उसके पैर पकड़ता है, वह उसे खम्भे की तरह बताता है। सच यह है कि हाथी को अपनी सम्पूर्णता में किसी ने भी नहीं देखा है। अधिक से अधिक वे सब इतना भर कह सकते हैं कि 'हाथी सूप की तरह' या 'खम्भे की तरह है' इत्यादि।

\* १० एच आई जी, सर्कुलर रोड, इलाहाबाद-२११००१

लेकिन स्याद्वाद हमें अपने कथनों में 'मताग्रह' से बचने के लिए सावधान करता है। जैन दर्शन में स्याद्वाद के साथ दार्शनिक सूक्ष्मता और बारीकी मानों अपने चरम पर है। एक आधुनिक व्याख्याकार स्वामी सुखबोधानंद ने स्याद्वाद को एक चीनी दंतकथा के माध्यम से बहुत ही आकर्षक रूप से स्पष्ट किया है-

'एक गरीब किसान को अपने खेत में एक सुन्दर काला घोड़ा घास चरते हुए मिल गया। वह इतना सुन्दर और सुगठित था कि राजा ने जब इस आश्चर्यजनक घोड़े के बारे में सुना तो उसने उसे खरीदना चाहा। इसके लिए वह किसान को एक बड़ी रकम देने के लिए तैयार था। लेकिन किसान ने उसे बेचने से विनयपूर्वक इन्कार कर दिया। गाँव वालों ने इस पर किसान से कहा, तुम बड़े मूर्ख हो जो तुमने घोड़ा बेचने से राजा को मना कर दिया। किसान बोला- 'हो सकता है।' कुछ दिनों बाद घोड़ा कहीं भाग गया और ढूँढने पर भी नहीं मिला। इस पर गाँव वालों ने किसान को फिर कहा- 'देखो, घोड़ा बेच देते तो आज यह नौबत न आती, तुम सचमुच एकदम मूर्ख हो।' किसान ने फिर से अपनी वही बात दोहरा दी- 'हो सकता है।' लेकिन सौभाग्य से कुछ समय बाद घोड़ा न केवल वापस आ गया, बल्कि उसके साथ बीस अन्य घोड़े भी आ गए। गाँव वाले यह देखकर हैरान थे। बोले, सच, तुम तो अक्लमंद निकले। आज तुम्हारे पास इक्कीस घोड़े हो गए। लेकिन किसान ने अपनी वही बात फिर दोहरा दी- 'हो सकता है।' एक बार किसान का इकलौता बेटा जब अपने पिता के घोड़ों को प्रशिक्षित कर रहा था तो वह एक घोड़े की पीठ से गिर गया और उसकी एक टाँग टूट गई। इसी बीच चीन में युद्ध छिड़ गया जिसमें सभी समर्थ युवकों को सेना में भर्ती करने के आदेश दे दिए गए। किंतु किसान का बेटा बच गया- उसकी एक टाँग टूटी थी। इस पर गाँव वालों ने किसान से कहा, तुम सचमुच भाग्यवान हो। तुम्हारा बेटा सेना में भर्ती होने से बच गया अन्यथा वह भी युद्ध में मारा जाता। किसान ने इस बार भी वही प्रतिक्रिया की- 'हो सकता है।'

इसमें कोई संदेह नहीं कि हम यदि निश्चयात्मक कथन न कहकर अपनी बात किन्हीं ऐसे वाक्यांशों की सहायता लेकर रखें जो वाक्य की निश्चयात्मकता को समाप्त कर दे, तो ऐसी तमाम स्थितियों से बचा जा सकता है जो अनावश्यक मतभेद और संघर्ष को जन्म देती हैं। ऐसे अनेक वाक्यांश हो सकते हैं- 'जहाँ तक मैं समझता हूँ', 'एक हद तक', मुझे ऐसा प्रतीत होता है' इत्यादि। ये सभी वाक्यांश 'स्यात्' में निहितार्थ की पूर्ति करते हैं।

हमारा जीवन एक-दूसरे से हमारे सम्बन्धों पर टिका हुआ है। यदि इन सम्बन्धों को हम खुला रखें तो जीवन को प्राणवायु मिलती है। यदि कोई कहे कि अमुक व्यक्ति बेवकूफ है तो स्पष्ट ही वह स्याद्वाद का पालन नहीं कर रहा होता है और

अपने सम्बन्धों को खराब कर रहा होता है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि 'जहाँ तक मैं समझता हूँ, अमुक ने अक्लमंदी नहीं की तो वह व्यक्ति पर बेवकूफी का ठप्पा न लगा कर उसके प्रति अपनी सीमित प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति दे रहा होता है। जरूरी नहीं कि और लोग भी उसे ऐसा ही समझें। ऐसे में अन्य विकल्प खुले रहते हैं। वस्तुतः अधिकतर लोग अपने ही पूर्वाग्रहों में कैद हो जाते हैं यह स्पष्ट ही अनुचित है। अतः अपनी बात रखते समय 'जहाँ तक मैं समझता हूँ' या 'मेरा अपना मत है' ऐसे वाक्यांशों को अपने कथनों में जोड़ देना, न केवल अपने ज्ञान की सीमा बताना है, बल्कि अन्य लोगों को अपनी बात रखने के लिए स्वतंत्र करना भी है। मत और भी हो सकते हैं और सभी मतों का ज्ञाता कोई नहीं होता। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपने मत की सीमा 'जहाँ तक मैं समझता हूँ' कह कर स्वीकार करें। स्याद्वाद का अनुसरण इसी में है।

इसी प्रकार जब हम कहते हैं कि अमुक बात 'एक हद तक' सही नहीं लगती तो हम सामने वाले की बात का पूरी तरह खंडन नहीं कर रहे होते और उससे सम्बन्धित अपने सीमित ज्ञान का ही प्रदर्शन कर रहे होते हैं। हर बात की अपनी एक सीमा है। कोई भी बात पूर्णतः सत्य नहीं होती। केवल एक हद तक ही उसे ठीक समझा जा सकता है, तो क्यों न हम किसी की बात को निर्णयात्मक तरीके से अस्वीकार करने के बजाय 'एक हद तक' स्वीकार कर लें। ऐसा करने में हम अपनी उदारता का प्रदर्शन तो करते ही हैं, एक उस दार्शनिक सत्य की अभिव्यक्ति भी करते हैं जिसके अनुसार हमारी वार्ता सदैव सापेक्ष है- देश, काल और पात्र से।

जैन दर्शन हर वाक्य के साथ 'स्यात्' जोड़ने का आग्रह करता है। आज 'स्यात्' शब्द चलन में नहीं है। दूसरे 'स्यात्' का अर्थ अक्सर 'शायद' लिया जाता है, लेकिन ऐसा नहीं है। जैन दर्शन में यह अपेक्षा-दृष्टि के अर्थ में सन्दर्भित है। शायद बात की निर्णायकता को तो बेशक समाप्त करता है, लेकिन उसकी 'सत्यता' पर उँगली उठाता हुआ भी लगता है। लेकिन बात किसी हद तक सत्य भी है। एक देश, काल और परिस्थिति में शायद वही सत्य हो। ऐसे में 'स्यात्' की बजाय अन्य वाक्यांशों से भी काम चलाया जा सकता है- 'एक हद तक', 'मैं समझता हूँ', मुझे ऐसा प्रतीत होता है' इत्यादि। लेकिन इन वाक्यांशों का अपनी वार्ता में केवल अपनी चतुराई के लिए प्रयोग न करें बल्कि बात की सत्यता की अभिव्यक्ति के लिए करें। 'सापेक्षता' के सन्दर्भ में जब इसका प्रयोग किया जाता है तभी 'स्यात्' का दार्शनिक मूल्य बरकरार रह पाता है।



## जैनागम में 'पाहुड' का महत्त्व

डॉ० ऋषभचन्द्र जैन\*

जैन परम्परा में आगमों का विशेष महत्त्व है। यहाँ आगम को जिनवचन माना गया है। जिनेन्द्र भगवान् की अर्थरूप वाणी को सुनकर उनके गणधरों ने जिन शब्द रूप ग्रन्थों की रचना की उन ग्रन्थों को अंग कहा गया। गुरु परम्परा से आगत होने के कारण उन्हें आगम नाम दिया गया।<sup>१</sup> संख्या में बारह होने के कारण वे द्वादशांग भी कहलाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशांग, ८. अन्तकृद्दशा, ९. अनुत्तरोप-पातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद।

दृष्टिवाद जैन आगम का बारहवाँ अंग है। इसके पाँच भेद हैं - १. परियम्म (परिकर्म), २. सुत्त (सूत्र), ३. अणुओग (अनुयोग), ४. पुव्वगयं (पूर्वगत) और ५. चूलिया (चूलिका)। इनमें परिकर्म के सात, सूत्र के बाईस, पूर्व के चौदह, अनुयोग के दो और चूलिका के पाँच भेद हैं। पूर्व के चौदह भेदों के नाम इस प्रकार हैं- १. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणीयपूर्व, ३. वीर्यानुवादपूर्व, ४. अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व, ५. ज्ञानप्रवादपूर्व, ६. सत्यप्रवादपूर्व, ७. आत्मप्रवादपूर्व, ८. कर्मप्रवादपूर्व, ९. प्रत्याख्यानपूर्व, १०. विद्यानुवादपूर्व, ११. कल्याणप्रवादपूर्व, १२. प्राणावायपूर्व, १३. क्रियाविशालपूर्व और १४. लोक-बिन्दुसारपूर्व। प्रत्येक पूर्व वस्तु अधिकारों में विभक्त है। चौदह पूर्वों की वस्तुओं की कुल संख्या एक सौ पंचानवे है। प्रत्येक वस्तु में बीस पाहुड होते हैं। इस प्रकार पाहुडों की कुल संख्या (१९५ x २० = ३९००) तीन हजार नौ सौ बतलायी गयी है।<sup>२</sup> पूर्वों का परिमाण ग्यारह अंगों से बहुत विशाल था। यहाँ तक कहा जाता है कि शेष अंगों का ज्ञान भी पूर्वों में समाहित था। व्यवहारभाष्य<sup>३</sup> में कहा गया है कि पहले आचारप्रकल्प नौवें प्रत्याख्यान पूर्व में गर्भित था, वहीं से लेकर उसे आचारांग में रखा गया।

'पाहुड' शब्द जैन परम्परा का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है, जिसका प्रयोग यहाँ विशेष अर्थ में हुआ है। इस प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्दकृत 'सुदभक्ति' की अंचलिका में 'पाहुड' शब्द की अवस्थिति द्रष्टव्य है - 'इच्छामि भंते! सुदभक्ति काउस्सगो

\* निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, बासोकुण्ड, वैशाली-८४४१२८



कओ तस्सलोचेउं, अंगोवंगपइण्णए पाहुड परियम्म-सुत्त पढमाणुओग पुव्वगय  
चूलिया चव सुत्तत्थ थुइ धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि पूजेमि ...।

यहां 'पाहुड' शब्द अंग, उपांग, प्रकीर्णक के बाद तथा परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका से पूर्व आया है। इससे ज्ञात होता है कि 'पाहुड' आगम की एक स्वतन्त्र विद्या या आगमांश है। आचार्य कुन्दकुन्द ही ऐसे एक मात्र आचार्य हैं जिन्होंने आगमों के विवरण में 'पाहुड' का स्वतन्त्र रूप में उल्लेख किया है। अन्यत्र कहीं ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया।

जयधवलाकार ने 'पाहुड' के संस्कृत रूपान्तर 'प्राभृत' शब्द के विषय में इस प्रकार लिखा है ...

'प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टेराचार्यैर्विद्या-  
वित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्।'<sup>४</sup>

'जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थकर के द्वारा आभृत अर्थात् प्रस्थापित किया गया है, वह प्राभृत है अथवा जिनका विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है अथवा परम्परा रूप से लाया गया है, वह प्राभृत है।'

गोमटसार<sup>५</sup> में 'पाहुड' और 'अहियार' को एकार्थक बतलाते हुए 'पाहुड' के अधिकार को 'पाहुड-पाहुड' कहा है। एक पाहुड में चौबीस 'पाहुड-पाहुड' होते हैं। धवलाकार (षट्खण्डागम के टीकाकार) 'एक पाहुड' श्रुतज्ञान का प्रमाण 'संख्यात पाहुड-पाहुड' बताया है।<sup>६</sup>

नदीसूत्र में कहा गया है - से णं अंगट्टाए बारसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे,  
चोहसपुव्वाइं, संखेज्जा वत्थु, संखेज्जाचुल्लवत्थु, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा  
पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडिआओ, संखेज्जाओ पाहुडपाहुडिआओ,  
संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयगोणं, संखेज्जा अक्खरा...।<sup>७</sup> अर्थात् बारहवें अंग  
दृष्टिवाद में एक श्रुतस्कन्ध, चौदहपूर्व, संख्यात वस्तु, संख्यात चुल्लवस्तु, संख्यात  
पाहुड, संख्यात पाहुड-पाहुड, संख्यात पाहुडिया, संख्यात पाहुड-पाहुडिया, संख्यात  
हजार पद और संख्यात अक्षर होते हैं।

आचार्य यतिवृषभ 'कसायपाहुड' के चुणिसुत्त में पाहुड की निरुक्ति करते हुए कहते हैं... 'जम्हा पदेहि पुदं ( फुडं ) तम्हा पाहुडं।' जो पदों से स्फुट अर्थात् व्यक्त है, वह पाहुड कहलाता है। जयधवलाकार वीरसेन स्वामी ने उक्त चुणिसुत्त की टीका में लिखा है ... 'एदेहि पदेहि पुदं ( फुडं ) वत्तं सुगममिदि पाहुडं।' इन पदों से जो स्फुट अर्थात् व्यक्त या सुगम है, वह पाहुड (पदस्फुट) कहलाता है। यहाँ पाहुड का अर्थ स्पष्ट रूप से पद की सुगम व्याख्या बताया गया है।

नोआगमभाव पाहुड के प्रसंग में जयधवलाकार का कथन द्रष्टव्य है ...

णोआगमदो भावपाहुडं दुविहं, पसत्थमप्पसत्थं च।

पसत्थं जहा दोगंधियं पाहुडं। अप्पसत्थं जहा कलहपाहुडं।

तत्थ दोगंधियपाहुडं दुविहं-परमाणंदपाहुडं, आणंदमेत्तिपाहुडं चेदि। तत्थ परमाणंददोगंधियपाहुडं जहा, जिणवइणा केवलणाणदंसणत्ति ( वि ) लोयणेहि पयासियासेसभुवणेण उज्झियरायदोसेण भव्वाणमणवज्ज-बुहाइरियपणालेण पट्टविददुवालसंगवयणकलावो तदेगदेसो वा। अवरं आणंदमेत्तिपाहुडं। कलहणिमित्तगहह-जर-खेटयादिदव्वमुवयारेण कलहो, तस्स विसज्जणं कलहपाहुडं।<sup>६</sup> अर्थात् नोआगम भावपाहुड प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार का है। प्रशस्त नोआगम भावपाहुड, जैसे-दो ग्रन्थ रूप पाहुड। अप्रशस्त नोआगम भावपाहुड, जैसे - कलहपाहुड।

परमानन्दपाहुड और आनन्दपाहुड के भेद से दो ग्रन्थिकपाहुड दो प्रकार का है। केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप नेत्रों से जिसने समस्त लोक को देख लिया है और जो राग-द्वेष से रहित है, ऐसे जिन भगवान् के द्वारा निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान् आचार्यों की परम्परा से भव्यजनों के लिए भेजे गये बारह अंगों के वचनों का समुदाय अथवा एक देश परमानन्द दो ग्रन्थिकपाहुड कहलाता है। इसवे; अतिरिक्त शेष जिनागम आनन्दमात्र पाहुड है।

गधा, जीर्णवस्तु और विष आदि द्रव्य कलह के निमित्त हैं इसलिए उपचार से इन्हें भी कलह कहते हैं। इस कलह के निमित्तभूत द्रव्य का भेजना कलहपाहुड कहलाता है।

नोआगमद्रव्य 'पाहुड' के सचित्त, अचित्त और मिश्र इन तीन भेदों का स्वरूप जयधवला में इस प्रकार कहा है ... 'तत्थ सचित्तपाहुडं णाम जहा कोसल्लियभावेण पट्टविज्जमाणा हयगयविलयायिया। अचित्तपाहुडं जहा मणि-कणय-रयणाईणि उवायणाणि। मिस्सयपाहुडं जहा ससुवण्णकरितुरयाणं कोसल्लियपेसणं।'<sup>७</sup> अर्थात् उपहाररूप से भेजे गये हाथी, घोड़ा और स्त्री आदि सचित्तपाहुड हैं। भेंट स्वरूप दिये गये मणि, सोना और रत्न आदि अचित्तपाहुड हैं। स्वर्ण के साथ हाथी और घोड़े का उपहाररूप से भेजना मिश्रपाहुड है।

आचार्य जयसेन ने 'समयस्यात्मनः प्राभृतं समय-प्राभृतं' (गाथा-१ की टीका) और 'यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किञ्चित्तसारभूतं वस्तुं राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्मारधकपरुषस्य निर्दोषिपरमात्म-राजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम्। कस्मात् सारभूतत्वात् इति प्राभृत-शब्दस्यार्थः।'<sup>१०</sup> कहा है।

पाहुड सम्बन्धी उक्त विवेचन से निम्नांकित तथ्य उभरकर सामने आते हैं ...

१. 'पाहुड' आगम की एक स्वतन्त्र विधा है।
२. 'पाहुड' पूर्वगत वस्तु का एक अधिकार या एक विषय का प्ररूपक आगमांश है।
३. 'पाहुड' पदों की स्पष्ट व्याख्या है।
४. 'पाहुड' पारम्परिक श्रुतरूप उपहार है।
५. 'पाहुड' लौकिक वस्तुओं का उपहार है।
६. एक 'पाहुड' में चौबीस 'पाहुड-पाहुड' होते हैं।

'पाहुड' ग्रन्थों की परम्परा में आचार्य गुणधर रचित 'कसायपाहुडसुत्त' उपलब्ध आद्य ग्रन्थ है, जिसे स्वयं ग्रन्थकार ने पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व की दशम वस्तु के तीसरे पेज्जपाहुड का अंश बताया है। विद्वानों ने आचार्य कुन्दकुन्द को चौरासी पाहुड ग्रन्थों का कर्ता बतलाया है, किन्तु उनके दंसणपाहुड, चारित्रपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड, लिंगपाहुड और समयपाहुड (समयसार) ये नौ पाहुड नामान्त ग्रन्थ ही खोजे जा सके हैं। इनके अतिरिक्त ४३ नामों की सूची डा० ए०एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार की अंग्रेजी प्रस्तावना में दी है तथा अन्य छ नाम 'संयम प्रकाश' में उपलब्ध हुए हैं। शेष नाम शोध के विषय हैं।

सन्दर्भ:

१. अनुयोगद्वार टीका, सूत्र-१४७
२. सुदभत्ति, गाथा-९-१०
३. व्यवहारभाष्य, गाथा - १५२८
४. कसायपाहुड, भाग-१, सम्पा०- पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पृ० ३२५
५. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा-३४०-४१
६. धवला पुस्तक - १३, पृ० २७०
७. नंदीसूत्र, युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, सूत्र ११०, पृ० २०१
८. कसायपाहुड, भाग-१, ३२३-२५
९. वही, पृ० ३२३
१०. स्याद्वादाधिकार, पृ० ३६



## जैनशास्त्रों में विज्ञानवाद

डॉ० कमलेश कुमार जैन\*

दर्शनशास्त्र में चिन्तन की प्रधानता होती है और न्यायशास्त्र में तर्क की। दर्शनशास्त्र में सामान्यतया तत्-तद् दर्शनों के सिद्धान्त पक्ष पर विचार किया जाता है, किन्तु न्यायशास्त्र में सर्वप्रथम अपने पक्ष को प्रस्तुत किया जाता है, तदनन्तर दूसरे-दूसरे दार्शनिक पक्षों को प्रस्तुत करते हुए तत्-तद् दर्शनों के सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर विभिन्न तर्कों के माध्यम से उनका खण्डन किया जाता है और अन्त में अपने सिद्धान्त पक्ष की पुष्टि की जाती है। अर्थात् एक प्रकार से अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को तर्क की कसौटी पर कसकर खरा सिद्ध करना और दूसरे दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन कर के अन्त में विविध तर्कों के माध्यम से अपने सिद्धान्त की पुष्टि करना न्यायशास्त्र की पद्धति है।

न्यायशास्त्र में सत्तर्कों के माध्यम से अपने शास्त्रीय पक्ष को प्रस्तुत करना एक समीचीन परम्परा है, किन्तु जब अपने पक्ष की पुष्टि के लिये जल्प, वितण्डा एवं छल का सहारा लिया जाता है तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपना पक्ष प्रस्तुत करने वाले के तर्कों का खजाना रिक्त हो गया है। अन्यथा जल्प, वितण्डा और छल जैसे शस्त्रों की शुद्ध बौद्धिक चिन्तन में आवश्यकता ही नहीं है। बुद्धि का कार्य है सत्तर्कों के माध्यम से अपने-अपने पक्ष को प्रस्तुत करना, न कि हारने की स्थिति में छल-बल का प्रयोग करना। छल-बल का प्रयोग करना वस्तुतः बौद्धिक अजीर्णता है।

विविध दार्शनिक प्रस्थानों ने अपने-अपने शास्त्रों में पूर्वपक्ष के रूप में अन्य दार्शनिक प्रस्थानों को प्रस्तुत किया है। जैन न्यायशास्त्रीय ग्रन्थों में भी पूर्वपक्ष के रूप में विविध दार्शनिक प्रस्थानों को प्रस्तुत किया गया है, जिनमें न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा और बौद्ध दर्शन आदि प्रस्थान प्रमुख हैं।

श्रमणविद्या की दो प्रमुख शाखाएँ हैं - बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन। बौद्ध दर्शन भगवान् बुद्ध के उपदेशों का परवर्ती रूप है। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण को प्राप्त हो जाने के बाद उनके उपदेशों की विविध व्याख्याएँ होने लगीं। फलस्वरूप

\* प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

बौद्ध धर्म अठारह निकायों में विभक्त हो गया।<sup>१</sup> किन्तु मुख्य सम्प्रदाय दो ही थे - हीनयान और महायान। हीनयान को स्थविरवाद तथा सर्वास्तिवाद भी कहा जाता है। पुनः हीनयान अथवा सर्वास्तिवाद की दो शाखाएँ हैं - वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक। सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक (संस्कृत) के ज्ञानप्रस्थान नामक ग्रन्थ पर जो टीका है, उसका नाम विभाषा है और उसके आधार पर विकसित होने के कारण इस शाखा का नाम वैभाषिक पड़ा। वैभाषिकों के अनुसार ज्ञान और ज्ञेय - दोनों सत्य हैं, मिथ्या नहीं। वे पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

सूत्रान्त अथवा भगवान् बुद्ध के मूल वचनों को आधार बनाकर जिस दर्शन का विकास हुआ वह सौत्रान्तिक कहलाया।

महायान की भी दो शाखाएँ हैं - माध्यमिक और योगाचार। जिन्होंने मध्यममार्ग का अनुसरण किया वे माध्यमिक कहलाये। इनके अनुसार ज्ञेय तो असत्य है ही, ज्ञान भी सत्य नहीं है। इनका सिद्धान्त शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है, किन्तु शून्यवाद का अर्थ पदार्थों का सर्वथा अभाव नहीं है। उनका मानना है कि वस्तु अनिर्वचनीय है। अर्थात् वस्तु न सत् है, न असत् है, न उभय रूप है और न ही अनुभय रूप।

महायान की ही दूसरी शाखा है - योगाचार। इसका दूसरा नाम विज्ञानवाद भी है। मैत्रेयनाथ, आर्य असंग और वसुबन्धु इस दर्शन के आचार्य हैं। यह बौद्ध दर्शन का विकसित रूप है। विज्ञानवाद के अनुसार एकमात्र विज्ञान ही परम सत्य है। बाह्यवस्तु विज्ञान का ही प्रतिबिम्ब है। विज्ञानवाद के पश्चात् ही बौद्धन्याय का विकास हुआ है और इसके प्रणेता है - आचार्य दिङ्नाग और आचार्य धर्मकीर्ति।

योगाचार सम्प्रदाय के अनुसार बाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। उनके अनुसार मात्र अन्तरङ्ग पदार्थ अर्थात् विज्ञान की ही सत्ता है। इसीलिए इसे विज्ञानवाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है। जहाँ सौत्रान्तिक मतानुयायी बाह्य पदार्थ को प्रत्यक्ष तो नहीं मानते हैं, किन्तु उसे वे अनुमेय अनुमान प्रमाण से जानने योग्य मानते हैं, वहीं विज्ञानवादियों का कहना है कि जब बाह्य अर्थ की ही सत्ता नहीं है तब उसे अनुमेय मानना भी उचित नहीं है। यतः बाह्य अर्थ की सत्ता ज्ञान पर आधारित है, अतः यथार्थ में ज्ञान की ही सत्ता है। बाह्यार्थ तो निःस्वभाव और स्वप्नवत् है।

योगाचार को स्वीकार करने वाले बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार यद्यपि बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है तथापि अनादिकाल से चली आ रही वासना के कारण विज्ञान का बाह्यार्थ रूप से प्रतिभास होता है। जैसे भ्रान्ति के कारण एक चन्द्र के स्थान पर

द्विचन्द्रों का प्रतिभास होता है, वैसे ही वासना के कारण विज्ञान में बाह्यार्थ की प्रतीति होने लगती है। अथवा बाह्य पदार्थों की सत्ता वैसे ही है जैसे कोई व्यक्ति स्वप्न में नाना पदार्थों का अनुभव तो करता है, किन्तु जागने पर कुछ भी शेष नहीं रहता है।

एक मात्र चित्त ही विविध रूपों में दिखलाई देता है। कभी वह देह के रूप में दिखलाई देता है और कभी योग के रूप में।<sup>२</sup> अतः चित्त ही ग्राह्य-ग्राहक रूप में दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः घट-पटादि ग्राह्य पदार्थ और ग्राहक अर्थात् उन पदार्थों को ग्रहण करने वाला तथा जिसके द्वारा पदार्थ ग्रहण किया जाता है- ये तीनों विज्ञान के ही परिणमन हैं। जिसकी दृष्टि भ्रमित हो जाती है, वह ग्राह्य, ग्राहक और ज्ञान में भेद की कल्पना करने लगता है<sup>३</sup>, जबकि विज्ञान एक रूप ही है।

जैन दार्शनिकों ने विज्ञानवाद को विज्ञानाद्वैतवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमांसा में एकान्तवादी दर्शनों के अन्तर्गत जहाँ क्षणिकैकान्तवाद आदि बौद्धमत का उपस्थापन करते हुये खण्डन किया है, वहीं उन्होंने विज्ञानाद्वैतवाद को भी एकान्तवादी दर्शनों में समेटते हुये विज्ञानवाद को विज्ञानाद्वैतवाद के स्थान पर अन्तरङ्गार्थतैकान्तवाद के रूप में उपस्थापित कर उसका खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि-

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाऽखिलम्  
प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम्।।<sup>४</sup>

अर्थात् अन्तरङ्ग अर्थ की सत्ता को ही सर्वथा एकान्त रूप से स्वीकार करने पर सभी बुद्धि और वाक्य झूठे हो जायेंगे तथा झूठे होने से वे प्रमाणाभास ही कहे जायेंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि प्रमाण के बिना प्रमाणाभास की सत्ता कैसे बन पायेगी? इसी को स्पष्ट करते हुये आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्री में लिखते हैं कि-

अन्तरङ्गस्यैव स्वसंविदितज्ञानस्यार्थता वस्तुता, न बहिरङ्गस्य प्रतिभा-  
सानर्हस्येत्येकान्ततोऽन्तरङ्गार्थतैकान्तः। तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेऽखिलं बुद्धिवाक्यं  
हेतुवादहेतुवादानिबन्धनमुपायत्वं मृषैव स्यात्। यतश्च मृषा स्याद् अत एव  
प्रमाणाभासमेव प्रमाणस्य सत्यत्वेन व्याप्तत्वात्। मृषात्वेन प्रमाणाभासस्य  
व्याप्तेः। तच्च प्रमाणाभासं प्रमाणादृते कथं सम्भवेत्? तदसम्भवे तद् व्यवहारम्  
अवास्तम् एव अयं स्वप्नव्यवहारमिव संवृत्त्यापि कथं प्रतिपद्यते।<sup>५</sup>

अर्थात् अन्तरङ्ग स्वसंविदित ज्ञान ही वास्तविक है, किन्तु प्रतिभासित होने योग्य बहिरङ्ग जड़ पदार्थ वास्तविक नहीं है। इस प्रकार के एकान्त को अन्तरङ्गार्थतैकान्त

कहते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धसम्मत इस एकान्तवाद को स्वीकार करने पर हेतुवाद और आगमवाद के निमित्तभूत सभी उपायतत्त्व बुद्धि और वाक्य असत्य ही हो जायेंगे और असत्य हो जाने से वे बुद्धि और वाक्य प्रमाणाभास ही सिद्ध होंगे। क्योंकि प्रमाण तो सत्यपने से व्याप्त है और प्रमाणाभास की व्याप्ति असत्य से है तथा वह प्रमाणाभास भी प्रमाण के बिना कैसे सम्भव होगा? उस प्रमाणाभास के असम्भव होने पर उसके व्यवहार को अवास्तविक रूप से ही बौद्ध स्वप्न व्यवहार के समान संवृति (माया-प्रपञ्च) से भी कैसे जान सकेंगे?

प्रो० उदयचन्द्र जैन ने इस विषय को और स्पष्ट करते हुये अपनी आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका नामक हिन्दी टीका में लिखा है कि-ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि अन्तरङ्ग अर्थ (ज्ञान) ही सत्य है और जड़ रूप बहिरङ्ग अर्थ असत्य है, क्योंकि उसमें स्वयं प्रतिभासित होने की योग्यता नहीं है। जो स्वयं प्रतिभासित नहीं होता है वह सत्य नहीं है। आगे वे लिखते हैं कि- ज्ञानाद्वैतवादियों का उक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है। यदि अन्तरङ्ग अर्थ ही सत्य है तो बुद्धि और वाक्य भी मिथ्या हो जायेंगे। यहाँ बुद्धि का तात्पर्य अनुमान से तथा वाक्य का तात्पर्य आगम से है। जब ज्ञान को छोड़कर अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है तो अनुमान और आगम कैसे सत्य हो सकते हैं? असत्य होने से अनुमान और आगम प्रमाणाभास होंगे। क्योंकि जो सत्य है वह प्रमाण होता है और जो असत्य है वह प्रमाणाभास होता है, किन्तु प्रमाणाभास-व्यवहार प्रमाण के होने पर ही हो सकता है। जब ज्ञानाद्वैतवादियों के यहाँ कोई प्रमाण ही नहीं है तो वे बुद्धि और वाक्य को प्रमाणाभास कैसे कह सकते हैं?\*

विज्ञानवादी ज्ञान को क्षणिक, अनन्यवेद्य और नाना सन्तान वाला मानते हैं, किन्तु किसी प्रमाण के अभाव में इस प्रकार के ज्ञान को सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह स्वप्न की तरह भ्रान्त है- विज्ञानवादिनः संविदां क्षणिकत्वम् अनन्यवेद्यत्वं नानासन्तानत्वम् इति स्वतस्तावन्न सिध्यति, भ्रान्तेः स्वप्नवत्।\*

क्षणिक आदि रूप ज्ञान अनुभव में नहीं आता है, अतः स्वसंवेदन से विज्ञानमात्र की सिद्धि नहीं होती है। अनुमान से भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकेगी, क्योंकि हेतु और साध्य में अविनाभाव का ज्ञान कराने वाला कोई प्रमाण नहीं है। मिथ्याभूत विकल्पज्ञान से विज्ञानमात्र की सिद्धि करने पर बहिरर्थ की सिद्धि भी उसी से हो जायेगी। वस्तुतः अपने पक्ष का समर्थन और दूसरे पक्ष का खण्डन करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है, किन्तु यहाँ प्रमाण के अभाव में विज्ञान की

सत्यता और बहिरर्थ की असत्यता सिद्ध नहीं हो सकती है। विज्ञानाद्वैतवादियों को स्वप्नज्ञान अथवा इन्द्रजाल की तरह ग्राह्याकार और ग्राहकाकार को भ्रान्त मानना उचित नहीं है, क्योंकि यदि स्वप्नज्ञान में भ्रान्तता का ग्राहक ज्ञान भ्रान्त है तो भ्रान्त के द्वारा स्वप्नज्ञान में भ्रान्तता कैसे सिद्ध हो सकेगी? और यदि वह ज्ञान अभ्रान्त है तो प्रत्यक्षादि को भी अभ्रान्त मानना चाहिये।

विज्ञान मात्र की सिद्धि के लिये प्रमाण मानना आवश्यक है और उसके मानने पर जैसे अन्तरङ्ग अर्थ की सिद्धि होगी वैसे ही बहिरङ्ग अर्थ की भी सिद्धि हो जायेगी। केवल अन्तरङ्ग का सद्भाव मानना युक्तिविरुद्ध एवं असंगत है।

अनुमान से भी विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि साध्य और साधन के ज्ञान को यदि विज्ञानमात्र ही माना जाये तो प्रतिज्ञा दोष<sup>१०</sup> और हेतु दोष के कारण न कोई साध्य बन सकता है और न हेतु। इसी को स्पष्ट करते हुये आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं कि—

**साध्य-साधन विज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।**

**न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतु दोषतः।।<sup>१०</sup>**

विज्ञानाद्वैतवादियों के अनुसार अर्थ और ज्ञान में अभेद है, क्योंकि ये दोनों एक साथ देखे जाते हैं। अर्थात् नील पदार्थ और नील ज्ञान-दोनों पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जैसे तिमिर रोगी को एक चन्द्र में द्विचन्द्र का बोध होता है, वैसे ही विज्ञान में भ्रान्ति के कारण अर्थ और ज्ञान-इन दोनों की एक साथ प्रतीति होती है। यहाँ सहोपलम्भनियम रूप हेतु के द्वारा ज्ञान और अर्थ में अभेद रूप साध्य की सिद्धि बतलाई गई है।<sup>१०</sup> इस सन्दर्भ में आचार्य विद्यानन्द का कहना है कि-अपने द्वारा कहे गये धर्म और धर्मों के भेद रूप वचन में एवं हेतु और दृष्टान्त के भेद वचन में अद्वैतवचन से विरोध आता है। तद्वचन और ज्ञान (नील शब्द और नील ज्ञान) में भेद कहने पर उसमें एकत्व की सिद्धि करने रूप वचन का विरोध है अथवा एकत्व रूप वचन कहने में भी विरोध आता है। इस प्रकार अभेद और भेद रूप स्ववचन में विरोध से डरते हुये अथवा अपने वचनों के अभाव को अपने वचनों से ही प्रदर्शित करते हुये विज्ञानाद्वैतवादी स्वस्थ कैसे कहे जा सकते हैं?<sup>११</sup>

‘मैं सदा मौनव्रती हूँ इस कथन के समान स्ववचन विरोध होने से विज्ञानाद्वैतवादियों के मत में अप्रसिद्ध विशेष्य और अप्रसिद्ध विशेषण रूप प्रतिज्ञादोष आ जाता है, जबकि नील और नील ज्ञान रूप विशेष्य में उसका अभेद रूप विशेषण विज्ञानाद्वैतवादियों



को भी इष्ट नहीं है। अर्थात् आपने (विज्ञानाद्वैतवादियों ने) ज्ञान को छोड़कर और कोई अभेद स्वीकार ही नहीं किया है।

आचार्य विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री नामक टीका ग्रन्थ के अतिरिक्त उनका एक अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ सत्यशासन परीक्षा भी है, जिसमें उन्होंने विभिन्न एकान्तवादी दर्शनों की समीक्षा की है। इसी क्रम में उन्होंने विज्ञानाद्वैतवाद की भी समीक्षा की है।

आचार्य विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री में विज्ञानाद्वैतवाद के पूर्व पक्ष अथवा उत्तरपक्ष में जो युक्तियाँ दी हैं, उन्हीं युक्तियों का अनुसरण प्रायः इस ग्रन्थ में भी किया गया है। हाँ! कुछ नवीन उदाहरणों के माध्यम से विषय का स्पष्टीकरण अवश्य किया है। विज्ञानवादियों के अनुसार विश्वमञ्च पर नाटकीय दृश्य उपस्थित करने वाली एक मात्र स्वसंवित्ति (विज्ञान) ही है, उससे भिन्न पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश कुछ भी नहीं है। वही संवित्ति ही नील, पीत, सुख, दुःख आदि रूप में वैसे ही प्रतीत होती है जैसे कोई नारी चित्र-फलक पर दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उसका अपना कुछ भी अस्तित्व नहीं है।

नाबनिर्न सलिल न पावको न मरुन्न गगनं न चापरम्।

विश्वनाटकविलाससाक्षिणी संविदेव परितो विजृम्भते।।

एक संविदि विभाति भेदधीर्नीलपीत- सुखदुःख रूपिणी।

निम्ननाभिरियमुन्नस्तनी स्त्रीति चित्रफलके समे यथा।।<sup>१२</sup>

इस मत की समीक्षा करते हुये आचार्य विद्यानन्द ने पूर्वोक्त युक्तियों के माध्यम से ही विज्ञानाद्वैतवाद का निराकरण करते हुये कहा है कि यह विज्ञानाद्वैतवाद प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि विज्ञान स्वरूप अन्तरङ्ग अर्थ की तरह बाह्य अर्थ का भी वास्तविक रूप से प्रत्यक्ष होता है। अतः इसे भ्रान्त नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि विज्ञानवादियों को भी सर्वथा क्षणिक, अनन्यवेद्य तथा नाना सन्तानों वाले विज्ञानों की सिद्धि अनुमान प्रमाण से ही करनी होगी।<sup>१३</sup>

आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड में योगाचारवादी विज्ञानाद्वैतवादियों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हुये कहा है कि विज्ञप्तिमात्र ही एक तत्त्व है और उसका ग्राहक ज्ञान प्रमाण है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है। ज्ञान ग्राह्य और ग्राहक के भेद से रहित है, किन्तु अनादिकालीन अविद्या के कारण दोनों पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक में दो कारिकायें<sup>१४</sup> लिखीं हैं, जिनका भावार्थ यह है कि- बुद्धि का

स्वरूप अविभाग (विभाग रहित) है, किन्तु विपरीत ज्ञान के कारण ग्राह्य और ग्राहक में भेद की कल्पना कर ली जाती है। बुद्धि के द्वारा अन्य कोई बाह्य अर्थ ग्रहण नहीं है और उस बुद्धि का भी कोई अन्य ग्राहक नहीं है। वह बुद्धि ग्राह्य और ग्राहक के वैधुर्य (अभाव) के कारण स्वयं प्रकाशित होती है।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने पूर्वोक्त तर्कों कि - तिमिर रोगी के द्वारा एक चन्द्र में द्विचन्द्रों का प्रतिभास होने तथा सहोपलम्भ नियम के कारण नील और नील बुद्धि में अभेद होने से विज्ञानवाद की सिद्धि होती है, इस मत की पूर्वपक्ष के रूप में स्थापना की है।

पुनः मत की समीक्षा करते हुये आचार्य प्रभाचन्द्र ने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदत्त तर्कों का ही सहारा लिया है और वे कहते हैं कि- विज्ञानमात्र तत्त्व का साधक कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से तो विज्ञानमात्र तत्त्व की ही सिद्धि नहीं होती है, अपितु उससे तो अश्व, गज, घट, पट आदि बाह्य पदार्थों की भी सिद्धि होती है। यदि प्रतिभासित होने पर भी बाह्य पदार्थों का अभाव मानेंगे तो विज्ञप्तिमात्र का भी अभाव हो जायेगा। अनुमान से भी विज्ञप्तिमात्र की सिद्धि सम्भव नहीं है, क्योंकि ज्ञानमात्र का साधक जो भी अनुमान होगा वह प्रत्यक्ष बाधित होने के कारण अप्रमाण ही होगा।<sup>१५</sup>

इस प्रकार प्रस्तुत लेख में आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा एवं उस पर आधारित आचार्य विद्यानन्द की अष्टसहस्री टीका एवं विद्यानन्द की ही एक अन्य कृति सत्यशासन परीक्षा तथा आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड में पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत एवं योगाचारवादी बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा स्वीकृत विज्ञानवाद के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उक्त विज्ञानवाद सिद्धान्त के सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों का क्या दृष्टिकोण है? अथवा उक्त सिद्धान्त का निराकरण किन-किन तर्कों के आधार पर किया जा सकता है? इन सबका संक्षेप में विवेचन करने का प्रयास मात्र है। अतः अन्त में यहाँ पर ज्ञातव्य है कि कोई भी सिद्धान्त न तो छोटा होता है और न बड़ा। किसी भी वस्तु को देखने के अपने-अपने तरीके होते हैं और उन्हीं तरीकों को आधार बनाकर यहाँ योगाचारवादी बौद्ध दार्शनिकों के विज्ञानवाद की समीक्षा की गई है। किसी को नीचा अथवा ऊँचा दिखाने का मन में किञ्चित् भी विकल्प नहीं है।

सन्दर्भ :

१. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्धधर्म-दर्शन, पृष्ठ ३६.
२. दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।  
देह-योग-प्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥ लंकावतारसूत्र ३/३३  
(देखें, आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, टिप्पण, पृष्ठ ४७)

३. अविभागेऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।  
ग्राह्य-ग्राहकसंवित्ति भेदवानिव लक्ष्यते।। प्रमाणवार्तिक ३/३५४  
(देखें, आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, सम्पा०-प्रो० उदयचन्द्र जैन, प्रका०-  
श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण,  
वी०नि०सं० २५०१, टिप्पण, पृष्ठ ४७)
४. देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा, अनु०-युगलकिशोर मुख्तार, प्रका०-  
वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, २१, दरियागंज, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण,  
वी०नि०सं० २४९४, कारिका ७९.
५. अष्टसहस्री, टीकाकर्त्री- आर्या ज्ञानमती, प्रका०-दि०जैन त्रिलोक शोध  
संस्थान, हस्तिनापुर, प्रथम संस्करण, वी०नि०सं० २५१६, कारिका  
७९ की टीका, तृतीय भाग, पृष्ठ ३७६.
६. आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका, पृष्ठ २६२.
७. अष्टसहस्री, तृतीय भाग, कारिका ७९ की टीका, पृ० ३७८.
८. प्रतिज्ञादोषस्तावत् स्ववचनविरोधः - अष्टसहस्री, तृतीय भाग, कारिका  
८० की टीका, पृ० ३८३.
९. देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा, कारिका ८०.
१०. सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलतद्ध्रियोद्धिचन्द्रदर्शनवद् इत्यत्र अर्थसंविदोः  
सहदर्शनमुपेत्य इति एकत्वैकान्तं साधयन् कथमवधेयाभिलापः। अष्टसहस्री,  
तृतीय भाग, पृ० ३८३.
११. स्वोक्तधर्म-धर्मिवचनस्य हेतु-दृष्टान्त-भेदवचनस्य चाद्वैतवचनेन विरोधात्।  
संविदद्वैतवचनस्य च तद्भेदवचनेन व्याघातात्, तद्वचनज्ञानयोश्च भेदे  
तदेकत्वसाधनाभिलापविरोधात्, तद्भिलापे वा तद्भेदविरोधात्। इति  
स्ववचनयो-र्विरोधाद् विभ्यत् स्वाभिलापाभावं वा स्ववाचा प्रदर्शयन्  
कथं स्वस्थः? सदा मौनव्रतिकोहमित्यभिलापवत् स्ववचनविरोधस्यैव  
स्वीकरणात् ...। अष्टसहस्री, कारिका ८० की टीका, तृतीय भाग, पृष्ठ  
३८३.
१२. सत्यशासन परीक्षा, सम्पा०-गोकुलचन्द्र जैन, प्रका०-भारतीय ज्ञानपीठ,  
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी, पृष्ठ ११.

१३. तदेतत् विज्ञानाद्वैतं प्रत्यक्षविरुद्धम्, अन्तरर्थवद् बहिरर्थस्यापि नीलादेः परमार्थस्य प्रत्यक्षेणोपलक्षणात्। भ्रान्तं तत्प्रत्यक्षमिति चेत्; न, बाधकाभावात्। उक्त एव वेद्यवेदकलक्षणाभावो बाधक इति चेत्, तावदेवं वदता योगाचारेण विज्ञानानां क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासन्तानत्वमनुमानेनैव व्यवस्थापनीयम्, स्वसंवेदनात् तदसिद्धेः.....। वही पृष्ठ १२.
१४. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।  
ग्राह्य-ग्राहक-संवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।।  
नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।  
ग्राह्य-ग्राहक-वैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।। प्रमेयकमलमार्तण्ड  
परिशीलन पृष्ठ १९ से उद्धृत, प्रो०उदयचन्द्र जैन, प्रका०-प्राच्य श्रमण  
भारती, मुजप्फरनगर, प्रथम संस्करण, १९९८
१५. विशेष जानकारी हेतु देखें - प्रमेयकमलमार्तण्ड परिशीलन, पृष्ठ  
१८-२६.



## वर्तमान संदर्भ में अनेकान्तवाद की प्रासंगिकता

डॉ० श्याम किशोर सिंह\*

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में जब जैनधर्म महावीर द्वारा विवेचित हुआ तब उसमें इहलौकिक जीवन के साथ-साथ पारलौकिक सामर्थ्य की एक नई अनुभूति का स्वर आया और फिर कर्मस्थली से ज्ञान की वह धारा प्रवाहित हुई जो आज भी मानवीय जीवन को आप्लावित कर रही है। जैन धर्म-दर्शन एक जीवन-दृष्टि है जिसका मूल मंत्र है- आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त और समाज में अपरिग्रह।

आज विश्व में चारों ओर वैचारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष अपनी चरम सीमा पर है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् महावीर द्वारा प्रस्तुत 'अनेकान्त' के सिद्धान्त पर चर्चा करना प्रासंगिक हो गया है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधारशिला है। यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त है जिसका सम्बन्ध धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैचारिक आदि सभी क्षेत्रों से है। प्रेम, सहिष्णुता, सद्भावना और समानता ही इसका मूल संदेश है। जैन दर्शन के अनुसार जो अपने को ही ऐकान्तिक रूप से सही मानते हैं और दूसरे के मन्तव्यों को गलत समझते हैं वे वस्तुतः सत्य का अनादर करते हैं, क्योंकि सत्य अनन्तमुखी है। अतः सापेक्ष स्तर पर सत्य में निहित विभिन्न संदर्भों को देखा जाए और उन संदर्भों में अन्तर्निहित रूपों के द्वारा उसे सम्मानित किया जाए तो उसी में उसकी मूल्यवत्ता है।

परम्परा की दृष्टि से अनेकान्त के प्रथम उपदेशक भगवान् ऋषभदेव माने जाते हैं, परन्तु आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अनेकान्तवाद के उद्भावनक के रूप में भगवान् पार्श्वनाथ को स्वीकार किया है।<sup>१</sup> ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनेकान्त के प्रवर्तक भगवान् महावीर हैं। भगवतीसूत्र<sup>२</sup> से ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद को प्रतिष्ठित किया है। भगवान् महावीर का काल वैचारिक क्रांति का काल था। उस समय भिन्न-भिन्न मतों का प्रचार-प्रसार था। प्रत्येक मत की दृष्टि से दूसरा मत असत्य था। सभी एकान्तवादी दृष्टि को अपना रहे थे। दर्शन के क्षेत्र में भी आपसी विरोध तथा अशांति की स्थिति थी। इस वैचारिक अशांति से व्यावहारिक जगत् भी प्रभावित था। एकान्तवाद के इस शत्रुतापूर्ण व्यवहार को देखकर महावीर ने इस क्लेश का कारण जानना चाहा। सत्यता का दंभ भरनेवाले दो विरोधी पक्ष आपस में लड़ते क्यों हैं? यदि

\* व्याख्याता, दर्शनशास्त्र विभाग, अवध बिहारी सिंह महाविद्यालय, लालगंज (वैशाली)

दोनों पूर्ण सत्य हैं, तो फिर दोनों में विरोध क्यों? इसका अभिप्राय है कि दोनों पूर्णरूपेण सत्य नहीं हैं। तब प्रश्न उठता है कि क्या दोनों पूर्णरूपेण असत्य हैं? ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, उसकी हमें प्रतीति होती है। अतः ये दोनों सिद्धान्त अंशतः सत्य हैं और अंशतः असत्य। एक पक्ष जिस अंश में सच्चा है, दूसरा पक्ष उसी अंश में झूठा है। दोनों के आपसी कलह का मुख्य कारण यही है। भगवान् महावीर ने इन वैचारिक जगत् के दोषों को दूर करने का प्रयास किया। उनके अनुसार किसी भी प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं हो सकता है।<sup>३</sup>

## I

वस्तु के अनन्त धर्म हैं और उन अनन्त धर्मों के समूह को जानना 'अनेकान्त' है। किन्तु सामान्य जन के लिए किसी वस्तु के अनन्त धर्मों को जानना असंभव है। सामान्यजन कुछ धर्मों को ही जानते हैं। अनन्त धर्म को तो कोई सर्वज्ञ ही जान सकता है, जिसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि रहती है। 'न्यायदीपिका' में अनेकान्त को परिभाषित करते हुए कहा गया है - 'जिसके सामान्य-विशेष, गुण व पर्यायरूप अनेक अन्त या धर्म हैं, वह अनेकान्त रूप सिद्ध होता है।' जो धर्म वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करते हैं अर्थात् जिसके बिना वस्तु का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता उन्हें गुण कहते हैं, जैसे मनुष्य में मनुष्यत्व, सोना में सोनापन। गुण वस्तु का आन्तरिक धर्म होता है। जो धर्म वस्तु के बाह्यकृतियों यानी रूप-रंग को निर्धारित करते हैं, जो बदलते रहते हैं, उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं उन्हें पर्याय कहते हैं, जैसे- सोना कभी अंगूठी, कभी हार, कभी कर्णफूल के रूप में देखा जाता है, किन्तु इन सभी अवस्थाओं में सोनापन कायम रहता है। कोई भी वस्तु गुण की दृष्टि से ध्रुव एवं स्थायी और पर्याय की दृष्टि से अस्थायी है, उसमें उत्पत्ति और विनाश है। जैन दर्शन में तत्त्व को परिभाषित करते हुए कहा गया है- 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'<sup>४</sup> अर्थात् सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य यानी स्थिरता से युक्त होता है।

अनेकान्तवाद के व्यावहारिक पक्ष को स्याद्वाद के नाम से भी जाना जाता है। स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक व्यवहार है तो दूसरा सिद्धांत, एक प्रकाशक है तो दूसरा प्रकाश्य। आचार्य प्रभाचन्द्र ने 'न्यायकुमुदचन्द्र' में कहा है - 'अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः'<sup>५</sup> अर्थात् अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहते हैं।

## II

जीवन और अनेकान्तवाद का अभिन्न सम्बन्ध है, लेकिन आग्रहवश वह एकान्तिक स्वरूप का चादर धारण किए रहता है। आग्रह की चादर जहाँ हटी कि

मानव का अनैकान्तिक स्वरूप स्वतः सामने आ जाता है। मानव जन्म से एकान्तिक नहीं होता। परिस्थितियाँ और परिवेश उसे एकान्तिक बना देते हैं। नवजात शिशु जातिवाद या ऊँच-नीच के भेदभाव को नहीं जानता। वह नहीं जानता कि मैं किस कुल और किस जाति में पैदा हुआ हूँ। वह नहीं जानता कि मैं अमीर के घर पैदा हुआ हूँ या गरीब के घर। लेकिन जैसे-जैसे वह सामाजिक बन्धनों से आबद्ध होता जाता है उसके अन्दर का निश्छल प्रेम संकुचित होता जाता है। उसके इसी संकुचन का परिणाम है कि वह दिन-प्रतिदिन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व राष्ट्रीय समस्याओं में उलझता जा रहा है। आज उसमें घृणा, द्वेष, छुआ-छूत, जाति-पाति, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब के भेद-भाव निवास करते हैं जो दुराग्रहपूर्ण एकान्तिकता के भाव हैं।

जैन धर्म-दर्शन की मान्यता है कि विश्व के जितने भी मनुष्य हैं, वे सभी मूलतः एक ही हैं। कोई भी जाति अथवा कोई भी वर्ग, मनुष्य जाति की मौलिक एकता को भंग नहीं कर सकता। मनुष्य जन्म से ऊँचा या नीचा नहीं होता, बल्कि कर्म से होता है। मानव का जन्म एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य के साथ हुआ है। अतएव मनुष्य को सामाजिक बुराइयों से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना होगा। सामाजिक बुराइयों एवं विभिन्नताओं के बीच सामंजस्य एवं पारस्परिक स्नेह को कायम रखने और मानव-मानव के बीच प्रेम, सहिष्णुता, शान्ति के साथ-साथ स्वतंत्रता, समानता एवं बन्धुत्व के आदर्श को स्थापित करने में अनेकान्तवाद की अहम् भूमिका हो सकती है। डॉ० कमलचन्द सोगानी ने सामाजिक पुनर्निर्माण में अहिंसा, अनेकान्तवाद आदि की महत्ता को स्वीकार करते हुए कहा है -

"The Social values which were regarded by Mahāvīra as basic are *ahiṃsā, aparigraha and anekānta*. These three are the consequence of Mahāvīra's devotedness to the cause of social reconstruction."<sup>17</sup>

भारत एक प्रजातंत्रात्मक देश है। किन्तु आज प्रजातांत्रिक प्रणाली दूषित हो गई है। प्रजातंत्र का वहीं समुचित विकास संभव है जहाँ लोग अधिकार के साथ-साथ कर्तव्य को भी समझते हों। भारतीय समाज का दुर्भाग्य है कि लोग अपने अधिकार तो समझते हैं, किन्तु वे अपने कर्तव्य से विमुख हैं। समाज में राजनीति का प्रवेश सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए हुआ, किन्तु राजनीति आज क्षुद्रता के दायरे में सिमट कर रह गई है। यद्यपि प्रजातांत्रिक प्रणाली में एकान्तवादिता को कोई स्थान नहीं दिया गया है, फिर भी राजनीतिक परिवेश में एकान्तवादिता का प्रवेश है, फलतः समाज में अनेकानेक बुराइयाँ दृष्टिगत हो रही हैं। आज समानता की बात की जा रही है, किन्तु सर्वत्र असमानता, दुराग्रह, एकान्तिकता का साम्राज्य है। यदि जैन दर्शन द्वारा

प्रतिपादित अनेकान्तवादी विचार को राजनेता, जन प्रतिनिधि अपनाने का प्रयास करें तो प्रजातंत्र का सही क्रियान्वयन हो सकेगा। फलस्वरूप एक सुदृढ़ समाज का निर्माण संभव है। आगमों में वर्णित कुलधर्म, ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म और गणधर्म सामाजिक सापेक्षता को स्पष्ट करते हैं।<sup>६</sup>

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है - 'धर्म ने मानव और मानव के बीच जितनी कटु शत्रुता को प्रसारित किया है, उतनी किसी दूसरे ने नहीं किया है।'<sup>७</sup> क्योंकि धर्म के ठेकेदारों के मस्तिष्क में यह बात घर कर गयी है कि केवल उन्हीं का धर्म एवं उन्हीं की उपासना पद्धति एक मात्र सत्य है और दूसरे की गलत। केवल वे ही ईमानदार हैं, शेष सभी 'विधर्मी' एवं 'काफिर' हैं। इसका मुख्य कारण है धर्म के यथार्थ स्वरूप को न समझना। धर्म का कार्य एकता, समानता, पुरुषार्थ आदि गुणों से मनुष्यों को दीक्षित करना है, न कि परस्पर विरोधी उपदेशों से समाज में भेद-भाव उत्पन्न करना। सभी धर्म एकान्तिक भाव से ग्रसित हैं। धार्मिक क्षेत्र में उत्पन्न समस्याओं का समाधान अनेकान्तवाद के पास है। उसके अनुसार महावीर भी हैं, राम भी हैं और रहीम भी हैं। सभी धर्मों के साथ समन्वयवादी दृष्टि जैन दर्शन प्रस्तुत करता है। यदि हम भावात्मक एकता और सहिष्णुता की भावना को अपना लें तो बड़े प्रेम और शान्ति से रह सकते हैं। सभी धर्म वाले एक-दूसरे धर्म का आदर करें, एक धर्म दूसरे धर्म की सत्यता को स्वीकार करे। यह तभी संभव है जब जैन दर्शन के अनेकान्त मार्ग को अपनाया जाए।

आज राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आये दिन संघर्ष की स्थिति देखी जा रही है। आज प्रत्येक राष्ट्र अपने हितों की रक्षा और सुरक्षा के विषय में चिन्तित है। कभी क्षेत्रवाद के आधार पर बिहार, झारखंड, आसाम, पंजाब आपस में झगड़ रहे हैं, तो कभी भारत एवं पाकिस्तान एक-दूसरे से लड़ रहे हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एकान्तिकता एवं दुराग्रह का भाव देखा जा रहा है। विश्व अनेक गुटों में बँटा है - समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, लोकतंत्रवाद आदि। ये सभी शासन प्रणाली और सामाजिक संगठन में सुधार की बात करते हैं और अपने को मानव जाति का पोषक मानते हैं। प्रत्येक देश का प्रत्येक दल केवल अपने को एवं अपनी नीतियों एवं कार्यक्रमों को सर्वोत्तम मानता है। प्रत्येक दल एवं गुट यह समझता है कि केवल उसके अनुयायी और सदस्य ही देश के प्रशासनिक पदों के योग्य हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समन्वयात्मक दृष्टि का अभाव देखा जा रहा है। सभी एकान्तिक भाव से ग्रसित हैं। यह एकान्तिकता तभी समाप्त हो सकती है जब अनेकान्तवाद को अपनाया जाए। अगर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की भावना को समझे, एक गुट दूसरे गुट की भावना का समादर करे तो राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है। अनेकान्तवाद की आवश्यकता आज सारे विश्व



को है। आधुनिक भारत के निर्माता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी अनेकान्तवाद से प्रभावित दिखते हैं, उन्होंने कहा है- 'मैं इस सिद्धान्त (अनेकान्तवाद) को बहुत अधिक पसंद करता हूँ। इसी सिद्धान्त ने मुझे सिखाया है कि मुसलमान को उसकी दृष्टि से जानना चाहिए और ईसाई को उसके अपने मत से।'<sup>१०</sup>

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विभिन्नताओं के बीच सामंजस्य एवं पारस्परिक स्नेह को कायम रखने में अनेकान्तवाद की अहम् भूमिका होगी। आवश्यकता है इसे जीवन में उतारने की।

### संदर्भ:

१. उपाध्याय, आचार्य बलदेव, भारतीय दर्शन, वाराणसी, १९७९, पृ० ९१.
२. भगवतीसूत्र, संपा०- घासीलालजी महाराज, प्र०- अ०भा०श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६८, श० १६, उ० ६, सू० ३.
३. सूत्रकृतांगसूत्र, सम्पा०- युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १/१/४/२२.
४. न्यायदीपिका, सम्पा०- पं० दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मंदिर ग्रंथमाला-४, सहारनपुर, १९४५, अ० ३, श्लो०- ७६.
५. तत्त्वार्थसूत्र : विवे० पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, ५/२९
६. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-२, संपा०- पं० महेन्द्र कुमार, माणिकचन्द दि० जैन ग्रंथमाला - ३८, बम्बई १९४१, पृ० ६८६.
७. 'Spirituality, Science and Technology' paper presented by Prof. K. C. Sogani in 'World Philosophy Conference 2006' in New Delhi.
८. स्थानांगसूत्र, सम्पा०- युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १०/७६०.
९. विवेकानन्द, ज्ञानयोग, पृ० ३७३.
१०. महात्मा गाँधी, हिन्दू धर्म, पृ० ६२.



## पदार्थ बोध की अवधारणा

डॉ० जयन्त उपाध्याय\*

मानव के भाषायी व्यवहार का आधार वाक् या वह वैखरी वाणी है जो मनुष्य की प्राणवायु के रूप में मुखगुहा के विभिन्न अवयव संस्थानों के संस्कार लेकर व्यक्त होती है। उस व्यक्त वाणी के उच्चारण और श्रवण के द्वारा अपने अभीष्ट अर्थ को दूसरे तक पहुँचाने या दूसरे के अभिमत को जानने की प्रक्रिया भाषा व्यवहार है। वक्ता अपने अभीष्ट अर्थ को शब्दों द्वारा व्यक्त करता है और श्रोता शब्दों से अर्थ का ग्रहण करता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जितने भी अर्थ हैं वे सब शब्द द्वारा वाक्यवाच्य हैं और शब्द भी अर्थ प्रतीति का कारण बनते हैं। वाक्य एक पूर्ण अर्थ का कथन करने में समर्थ होता है, अतएव वह पद समूह जिससे एक पूर्ण अर्थ अभिव्यक्त हो, वाक्य कहलाता है। वाक्य से छोटी इकाई पद है। वाक्य पदों से मिलकर बनता है। पद भी अपना अर्थ स्पष्ट करने में सक्षम है। पद में 'इस पद द्वारा यह अर्थ जानना चाहिए' इस रूप में ईश्वरेच्छा जिसे शक्ति या संकेत कहते हैं, समवेत होती है। पद श्रवण के अनन्तर श्रोता इस शक्ति के द्वारा पद से अर्थ का ग्रहण करता है। पदार्थ का वाक्यार्थ से यह भेद होता है कि पद का अर्थ पूर्ण एवं निराकांक्ष नहीं होता, अपितु वह साकांक्ष और पूर्ण होता है। पद विभिन्न क्षणिक वर्णों से मिलकर बनता है। ये वर्ण अर्थप्रत्यायक नहीं होते, अतएव वाक् की इकाई के रूप में वाक्य और पद का ग्रहण किया जाता है; क्योंकि वाक्य और पद ही अर्थबोधन में समर्थ होते हैं। वर्ण चूँकि अर्थबोधन में अक्षम होते हैं, अतः वर्णों को वाक् की इकाई नहीं माना जाता।

जैन दर्शन में शब्द और ध्वनि में अन्तर को स्वीकार किया गया है। सभी शब्द ध्वनि हो सकते हैं किन्तु सभी ध्वनि शब्द नहीं कहे जा सकते। सामान्यतया श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य वर्णों की नियत क्रम में होने वाली ध्वनि को शब्द कहा जाता है।<sup>१</sup> दूसरे शब्दों में वर्णों के समूह को शब्द कहा जा सकता है। जैन दार्शनिक शब्द को नित्य न मानकर इसे उत्पन्न मानते हैं। उनका मानना है कि जब वक्ता में अपने विचारों और भावनाओं को दूसरों के प्रति अभिव्यक्त करने की इच्छा होती है तब मनोयोग सक्रिय हो जाता है। मन के सक्रिय होने पर वाक् सक्रिय हो जाता है और वाक् सक्रिय होने पर

\* जनरल फेलो (आई०सी०पी०आर०), दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

शरीर सक्रिय होता है। शरीर के सक्रिय होने पर वक्ता का स्वरयन्त्र भाषा वर्णना में परिवर्तित हो जाता है। प्रज्ञापनासूत्र में भाषा को शारीरिक प्रयत्नों से उत्पन्न होना कहा गया है।<sup>२</sup> शब्द और ध्वनि का अन्तर स्पष्ट करने के लिए शब्द को प्रायोगिक और वैज्ञानिक, दो भागों में विभक्त किया गया है। भाषा प्रायोगिक शब्दों से बनती है, वैज्ञानिक शब्दों से नहीं। प्रायोगिक शब्द वे हैं जो प्रयत्नों द्वारा निकाली गई ध्वनि से निर्मित होते हैं, इसी प्रकार जब पदार्थों के संघर्ष से स्वाभाविक ध्वनि का निष्पादन होता है तो उन ध्वनियों से वैज्ञानिक शब्द बनते हैं।

### पद का स्वरूप

पाणिनि ने सुबन्त और तिङन्त को पद कहा है।<sup>३</sup> पाणिनि के इस द्विविध विभाजन का अनुसरण करते हुए जयन्त भट्ट ने नाम और आख्यात दो प्रकार के पद स्वीकार किये हैं। नाम और आख्यात से भिन्न पद स्वरूपों-उपसर्ग, निपात और कर्मप्रवचनीय का जयन्त भट्ट नाम में अन्तर्भाव करते हैं।<sup>४</sup> इस प्रकार नाम वे हैं जिनमें सुप प्रत्यय लगते हैं और आख्यात वे हैं जिनमें तिङ् प्रत्यय लगते हैं। न्यायसूत्रकार का भी यही मन्तव्य है।<sup>५</sup> महर्षि अक्षपाद विभक्त्यन्त को पद कहते हैं और विभक्ति से उनका तात्पर्य नाम और आख्यात से लगने वाले सुप और तिङ् प्रत्ययों से है। भाष्यकार के मत में उपसर्ग, निपात आदि भी विभक्त्यन्त ही है।<sup>६</sup> तथापि विशेष शास्त्र-व्यवस्था के कारण तत्-तद् स्थलों में विभक्ति का अदर्शन होता है। तर्कसंग्रहकार ने शक्त को पद कहा है।<sup>७</sup> शक्त का अर्थ है वह वर्ण समूह जो शक्ति का आश्रय हो। शक्ति कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, वरन् पद का पदार्थ के साथ सम्बन्ध ही शक्ति है। इस प्रकार न्याय दर्शन में शक्ति के सहयोग से पद द्वारा अर्थबोध स्वीकार किया गया है। पद का स्वरूप मुख्यतः व्याकरण दर्शन का विषय है। अतः यहाँ इसके विस्तार में न जाकर पद के अर्थ पर विचार करना अधिक न्यायसंगत होगा।

जैन दर्शन के अनुसार जिसके द्वारा अर्थ यानी वाच्य-विषय को जाना जाता है अथवा जिसके द्वारा अर्थ का प्रतिपादन होता है वह पद कहलाता है।<sup>८</sup> शब्द और पद दोनों एक नहीं हैं, बल्कि दोनों में अन्तर है। विभक्तिरहित होने से शब्द का अर्थ (वाच्य) वाक्य निरपेक्ष होता है और विभक्ति युक्त होने से पद का अर्थ (वाच्य) वाक्य सापेक्ष होता है।

### पद-पदार्थ-सम्बन्ध ( शक्ति ) के ग्रहण से साधन :

पद का अर्थ केवल उन श्रोताओं द्वारा ही ग्रहीत होता है जो श्रूयमाण पद की वक्तुरिष्ट तदर्थ विषयाशक्ति का ग्रहण कर चुके हैं। वक्ता किसी विशेष अर्थ के लिए

तद्बोधकत्वानुकूल पद का उच्चारण करता है और श्रोता उस पद के श्रवण के बाद वक्तृतात्पर्यानुकूल अर्थ की बोधक शक्ति का पूर्व में ग्रहण होने से उस अर्थ का ज्ञान करता है। शक्तिग्रह के साधनों पर परवर्ती नव्य नैयायिकों ने विस्तार से विचार किया है, परन्तु जयन्त भट्ट ने शक्तिग्रह के साधनों की अलग गवेषणा की अपेक्षा की है। शक्तिग्रह के आठ हेतु कहे गये हैं जो इस कारिका में संग्रहीत हैं।

शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यास्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सन्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धः ॥

व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वृद्ध व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और सान्निध्य से वृद्ध लोग सिद्ध पदों को शक्तिग्रह कहते हैं। शक्तिग्रह के इन आठ उपायों में वृद्ध व्यवहार प्रमुख साधन है जिससे व्यापक पैमाने पर शक्तिग्रह होता है। इसके पश्चात् अध्ययन आदि के द्वारा व्याकरणादि भी शक्तिग्रह में सहायक होते हैं। पदार्थबोध पद-पदार्थ सम्बन्ध के ज्ञान के बिना असम्भव है और शक्ति या पद-पदार्थ का ज्ञान अनुमान के बिना सम्भव नहीं है। अतएव शक्तिग्रह में अनुमान सहकारी कारण है।<sup>९</sup> प्रयोजक वृद्ध द्वारा 'गामानय' आदि वाक्यों का उच्चारण करने पर प्रयोज्य वृद्ध द्वारा गामानयनानुकूल व्यापार देखकर तथा प्रयोजक वृद्ध द्वारा 'घटमानय' कहे जाने पर प्रयोज्यवृद्ध की घटमानयनानुकूल क्रिया देखकर अव्युत्पन्न बालक 'आनय' पद से 'आनयनानुकूलव्यापार' या 'लाना' अर्थ का अनुमान करता है। इस प्रकार अज्ञ व्यक्ति आवापोद्वाप की इस प्रक्रिया द्वारा शक्ति का ज्ञान करता है।<sup>१०</sup> शक्तिग्रह के अन्य उपायों में से व्याकरण द्वारा धातुओं, विभक्तियों, कारकों और प्रत्ययों आदि के द्वारा व्यक्त शक्ति का ग्रहण करता है। गवय पद द्वारा गोसदृश पिण्ड विशेष रूप जो अर्थ होता है उसका कारण उपमान है। इसी प्रकार अमरकोश, निघण्टुकोश भी पर्याय शब्दों आदि के द्वारा शक्तिग्रह कराते हैं। आप्तवाक्य भी शक्तिग्रह का कारण होता है, जैसे- कोई आप्त पुरुष कहे 'कोकिलः पिकशब्दवाच्यः' तो यहाँ आप्त वाक्य के द्वारा पिक पद का कोकिल अर्थ से सम्बन्ध गृहीत होता है। वाक्यशेष द्वारा भी कभी-कभी शक्तिग्रह होता है, जैसे वेद में 'यवमयश्चरुर्भवति' यह श्रुति है। यहाँ यव पद का आर्य लोग दीर्घ शूक वाले धान्य अर्थ में प्रयोग करते हैं और म्लेच्छ लोग कङ्गु अर्थ में यव पद का प्रयोग करते हैं, परन्तु "वसन्ते सर्वस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः" इस वाक्य से वाक्यशेष के द्वारा 'यव' पद की दीर्घ शूक में शक्ति है-यह ज्ञान होता है। विवृति या विवरण के द्वारा घटः का कलशः या पचति का पाक करोति-इत्यादि प्रकारक अर्थ में शक्तिग्रह होता है। सिद्ध पद की सन्निधि द्वारा भी शक्तिग्रह होता है जैसे- 'सहकारतरौ मधुरं पिको रौति' इस वाक्य में असिद्ध पद का पिक का सिद्ध पद 'सहकारतरू' और 'मधुरं रौति' के सान्निध्य के

कारण कोयल अर्थ में शक्तिग्रह होता है। कुछ लोग हाथ के इशारे को नवें प्रकार का संकेतग्रहसाधक मानते हैं। जैसे- कोई व्यक्ति उँगली के संकेत से किसी अज्ञ को कहे 'इयं ते माता' तो वह बालक माता पद के अर्थ का ग्रहण कर लेता है और इस संकेत ग्रह का साधन हस्त संकेत बनता है।

जैन दर्शन में शब्दार्थ के निर्धारक कारकों के रूप में दो प्रमुख मतों की चर्चा है, वे हैं- नय सिद्धान्त तथा निक्षेप सिद्धान्त। नय एवं निक्षेप दोनों ही सिद्धान्त शब्दार्थ निर्धारक सिद्धान्त हैं, किन्तु इनमें कुछ अन्तर है। नय वाक्य के अर्थ का निश्चयन करता है तथा निक्षेप मूलतः शब्द के अर्थ का निश्चय करता है। वक्ता का अभिप्राय ही नय है।<sup>१२</sup> वस्तुतः नय वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर वक्ता के आशय एवं कथन के तात्कालिक सन्दर्भ को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। इसी प्रकार निक्षेप वह सिद्धान्त है जिससे प्रकरण आदि के अनुसार अप्रतिपत्ति आदि का निराकरण होकर शब्द के वाच्यार्थ का यथास्थान विनियोग होता है।

### शब्द शक्तियाँ

शब्द से अर्थ की अवगति मानने वाले सभी आचार्य शाब्दबोध में शक्ति को सहकारी कारण मानते हैं।<sup>१३</sup> पद में समवेत रहने वाली और अर्थ के प्रकाशानुकूल सामर्थ्य शक्ति कहलाती है।<sup>१३</sup> इसी शक्ति को न्यायदर्शन में 'वृत्ति' कहा गया है। सामान्यतः शब्द-शक्तियों पर विचार करने वाले आलंकारिकों ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना- तीन शब्द-शक्तियों को स्वीकार किया है, परन्तु नैयायिकों का आलंकारिकों से यहाँ मतभेद है। नैयायिक शक्ति और लक्षणा केवल दो ही वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं।<sup>१४</sup> व्यंजना का स्वतन्त्र वृत्तित्व इन्हें स्वीकार्य नहीं है।

न्याय परम्परा के अनुपालन में जयन्त भट्ट ने भी अभिधा और लक्षणा दो ही वृत्तियों को स्वीकार किया है। अभिधावृत्ति तो शब्दगत मुख्यवृत्ति रही है। अतः इसकी स्वीकृति में सबका अविरोध है। जयन्त भट्ट का मत है कि जिस पद के उच्चारण से नियमपूर्वक जो अर्थ उपस्थित होता अथवा समझा जाता है, वह उसका अभिधेयार्थ होता है।<sup>१५</sup> जयन्त भट्ट जहाँ पदार्थ और वाक्यार्थ पर विचार करते हैं वहाँ स्पष्टतः उनका तात्पर्य पद और वाक्य के जिस अर्थ से है, वह मुख्य और अभिधाजन्य अर्थ है।<sup>१६</sup> न्यायमञ्जरी के एक प्रसंग में जयन्त भट्ट लक्षणा को स्पष्टतः स्वीकार करते हैं।<sup>१७</sup> लक्षणावृत्ति शब्दागत गौणवृत्ति है। लक्षणा के विषय में जयन्त भट्ट का मत है कि वाक्यगत सभी पद निश्चिन्ततया एक अर्थ को स्पष्ट करते हैं, परन्तु पद द्वारा सदा एक ही प्रकार का अर्थ प्रकाशित होगा-यह आवश्यक नहीं है। पद कभी अपना मुख्य अर्थ देते हैं और कभी अपना गौण अर्थ प्रस्तुत करते हैं। यदि वाक्य का मुख्य अर्थ अविरोद्ध और अबाधित हो, तब सभी पदों में अभिधा शक्ति की अवस्थिति माननी चाहिए, परन्तु

यदि वाक्य के मुख्यार्थ की अन्वर्थता में बाधा पड़ती हो, तब निश्चित ही गौणवृत्ति या लक्षणावृत्ति द्वारा पदों के अर्थ का ग्रहण करके वाक्यार्थबोध की उपपत्ति की जाती है। अतएव एक ही पद भिन्न अर्थों की प्रस्तुति में भिन्न-भिन्न प्रकार से निमित्त होता है। अभिधेय अर्थ में जो पद अभिधावृत्तिनिष्ठ होकर निमित्त होता है, वही पद लक्ष्यार्थ में लक्षणावृत्तिनिष्ठ होकर निमित्त बनता है।<sup>१८</sup> आचार्य जयन्त भट्ट ने वाक्य में कुछ शब्दों के अदर्शन को भी स्वीकार किया है। जहाँ मुख्यवृत्ति द्वारा अर्थ का प्राकाट्य न हो रहा हो, वहाँ निश्चित रूप से कोई पद अदृष्ट है, जिससे अर्थ के अन्वय में बाधा पड़ती है। अतः जयन्त भट्ट का मत है कि वाक्य से अर्थ ग्रहण करते समय वाक्यगत दृष्ट और अदृष्ट सभी पद मिलकर अर्थाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं।

जैन दार्शनिक शब्द और उसके अर्थ में सम्बन्ध स्वीकार करते हैं किन्तु उसे नित्य नहीं मानते, क्योंकि भाषा के प्रचलन में कई बार शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं, साथ ही एक समान उच्चारण के शब्द भी दो भिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ रखते हैं। जैन दार्शनिकों के अनुसार शब्द अपने अर्थ का संकेतक अवश्य है लेकिन शब्द का अर्थ के साथ न तो तदुत्पत्ति सम्बन्ध है और न तद्रूपता सम्बन्ध ही है। उनकी मान्यता है कि शब्दों में अपने अर्थवाच्य होने की सीमित सामर्थ्यता होती है, अतः शब्द-संकेत अपने अर्थ से अनित्य रूप से सम्बन्धित होकर अर्थबोध करा देते हैं।<sup>१९</sup>

### व्यंजना का खण्डन

शब्द की इस द्विविध सामर्थ्य से भिन्न अन्य किसी सामर्थ्य या वृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। वाक्यगत सभी पद अपना पूर्ण अर्थ स्पष्ट करने में इसी द्विविध शब्द-सामर्थ्य से ही समर्थ हो जाते हैं, अतः मुख्य और गौण अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को स्पष्ट करने के लिए व्यंजना को अलग वृत्ति नहीं स्वीकार करनी चाहिए, आलंकारिकों की व्यंजनावृत्ति को ही ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि शब्द से अभिहित किया है।<sup>२०</sup> आचार्य जयन्त भट्ट ने उक्त शब्दसामर्थ्य से<sup>२१</sup> वाक्यार्थोपपत्ति हो जाने के कारण व्यंजना और ध्वनि दोनों का इसी हेतु से निषेध कर दिया। व्यंजनावदी और ध्वनिवादी आचार्य यह हेतु देते हैं कि कभी-कभी वाक्य अपने पदों द्वारा अभिधेय अर्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ को स्पष्ट करता है जिससे अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक स्वतन्त्र शब्द सामर्थ्य स्वीकार करना चाहिए।<sup>२२</sup> जयन्त भट्ट का अभिमत है कि शाब्दबोध में वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान मुख्य कारण होता है, अतएव वक्तृतात्पर्य की निर्णय-बेला में अर्थ का निर्णय एवं उपपत्ति हो जाती है।<sup>२३</sup> वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। वाक्यगत शब्द चूँकि वक्ता के तात्पर्य का ही उपदेश करते हैं और वक्तृतात्पर्य शब्द के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण से भी जाना जा सकता है। अतः अनुमानगम्य वक्तृतात्पर्य द्वारा वाक्यार्थ की उपपत्ति

हो जाती है।<sup>२४</sup> जिस प्रकार से 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में गंगायाम् पद से प्रवाह रूप अभिधेयार्थ के आधारत्व की अनुपपत्ति होने के कारण प्रमाणान्तरगम्य वक्तृतात्पर्य के अनुकूल तट रूप अर्थ में शब्द का व्यापार पर्यवसित होता है। इसी प्रकार 'मम धम्मिअ वीसत्थो' आदि में यद्यपि अभिधान शक्ति विधि-पर्यवसायिनी है, तथापि तात्पर्य के पर्यवसित न होने के कारण और विधिपरक अर्थ में पदार्थों का अन्वय समुचित न होने के कारण 'मा भ्रमी' एतद्रूप निषेध में वाक्यार्थ का पर्यवसान होता है।<sup>२५</sup> अतएव व्यंजनावृत्ति या ध्वनि को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।

### तात्पर्य शक्ति

पदनिष्ठ अभिधा और लक्षणा शक्तियों के अतिरिक्त जयन्त भट्ट ने पद में तात्पर्य-शक्ति स्वीकार किया है। इस तात्पर्य-शक्ति का उपयोग पदार्थबोध में न होकर वाक्यार्थ बोध में होता है।<sup>२६</sup> वस्तुतः आचार्य जयन्त न तो भाट्ट मीमांसकों, नैयायिकों एवं वेदान्तियों के अभिमत अन्विताभिधानवाद के शाब्दबोध को स्वीकार करते हैं और न ही अन्विताभिधानवाद को। शाब्दबोध के सम्बन्ध में पदार्थों का अन्वय किसी न किसी रूप में सभी सखण्ड-वाक्यवादियों को अभीष्ट है। आचार्य जयन्त भट्ट संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ मानते हैं। अभिहितान्वयवादी नैयायिकों के अनुसार पदार्थों का संसर्ग, संसर्ग-मर्यादा से होता है और भाट्टों के अनुसार पदगत लक्षणाशक्ति से अभिहित पदार्थों का संसर्ग होता है। गुरुमत में पद की अभिधाशक्ति द्वारा ही इतरेरान्वित पदार्थों का अभिधान होता है। वैयाकरणों के अनुसार अखण्ड वाक्य से अखण्ड प्रतिभा वाक्यार्थ का बोध होता है, जहाँ पदार्थों के संसर्ग की आवश्यकता ही नहीं होती। इस प्रकार पदार्थों में संसर्ग मानने वाले दार्शनिकों ने संसर्ग की प्रतीति अभिधा या लक्षणा द्वारा ही स्वीकार किया है, परन्तु भारतीय दर्शन, के इतिहास में जयन्त भट्ट पहले ऐसे दार्शनिक हैं जिन्होंने पदार्थ-संसर्ग को स्वीकार करते हुए भी संसर्ग-प्रतीति के लिए अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों का खण्डन किया है और पदार्थों का संसर्ग पद की तात्पर्य शक्ति से स्वीकार किया है।<sup>२७</sup> आचार्य जयन्त भट्ट का मत है कि पद की अभिधाशक्ति केवल पदार्थ का ज्ञान कराती है और पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान पदों की तात्पर्य शक्ति से होता है।<sup>२८</sup> आचार्य जयन्त भट्ट का अपना शाब्दबोध सिद्धान्त संहत्यकारितावाद कहलाता है जिसका अर्थ यह है कि पद मिलकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। संसर्ग का बोध अभिधाशक्ति से न होकर सम्मिलित पद रूप वाक्य के पदों की तात्पर्यशक्ति से होता है। वाक्यार्थ बोध में पदार्थ बोध अवान्तर व्यापार है जो पदों की अभिधा शक्ति से सम्पन्न होता है, जबकि पदों की तात्पर्य शक्ति से पदार्थों का अन्वित रूप में ज्ञान होता है। इस प्रकार शाब्दबोध में तात्पर्य शक्ति प्रधान कारण है।

जैन दर्शन के अनुसार पद और वाक्य दोनों परस्पर सापेक्ष तथा वाक्यार्थ बोध में समान रूप से बलशाली हैं। यहाँ अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद में समन्वय स्थापित करते हुए कहा गया है कि वाक्यार्थ-बोध में पद और वाक्य दोनों की भूमिका है, अतः किसी एक को प्रधानता नहीं दी जा सकती। पद और वाक्य दोनों एक-दूसरे से पूर्णतः न भिन्न हैं और न पूर्णतः अभिन्न।

संदर्भ :

१. श्रोतेन्द्रियग्राह्यनियतक्रमवर्णात्मनि ध्वनौ। अभिधानराजेन्द्र कोश, पृ० ३३८.
२. भासाणं भंते। किं यवहा? गोयमा। सरीरप्पभवा भासा। - प्रज्ञापनासूत्र, भाषावाद, ११.१५
३. सुप्तिऽन्तं पदम्। अष्टाध्यायी, १/१/१४.
४. पदं च द्विविधं नाम आख्यातं च, उपसर्गनिपातकर्मप्रवचनीयानामपि नामान्तर्भावमाचक्षते। न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० २७१.
५. ते विभक्त्यन्ता पदम् - न्यायसूत्र २/२/६०.
६. द्रष्टव्य - न्यायभाष्य, २/२/६०.
७. शक्तं पदम् । अपिच, अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः शक्तिः । - तर्कदीपिका, पृ० ५०.
८. पद्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम् । अभिधानराजेन्द्र कोश, खण्ड ५ पृ० ५०२
९. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ११९ में संकेत ग्रह के लिए अनुमान के उपयोग पर लेखक द्वारा उपपत्ति प्रदर्शन ।
१०. प्रयोगप्रतिपत्तिभ्यां..... तद्वानर्थ इति स्थितम्। न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० २९७.
११. वक्तुरभिप्रायः नयः। स्याद्वादमंजरी, पृ० २४३
१२. पद ज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।  
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥ कारिकावली, ८१.
१३. अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः। तर्कसंग्रह, पृ० ५०.
१४. वृत्तिनाम शक्तिलक्षणान्यतररूपा। न्यायबोधिनी, पृ० ५२.
१५. अयमस्थ पदस्यार्थ इति केचित् स तेन वा।  
योऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः ॥ वही, पृ० २९९.



१६. इत्येवं लेशतस्तावन्नाम्ना वृत्तिरूदाहता।
१७. गंगायां घोष इत्यादौ यथा सामीप्यलक्षणा। वही, पृ० २९७.
१८. न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० ४४.
१९. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, जैन दर्शन, पृ० २७३
२०. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु पुरा महाकवीनाम् ।  
यत्तत्प्रसिद्धावयातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्वन्यावलोक,  
सम्पा०- पं० शोभित मिश्रा, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, १९६४,  
१/४.
२१. न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० ४५
२२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।  
व्यङ्कतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरभिः कथितः। ध्वन्यावलोक,  
१/१३.
२३. न्यायमञ्जरी, पृ० १२९-३०.
२४. मानान्तरपरिच्छेद्यवस्तरूपोपदेशिनाम्। शब्दानामेव साम्थयं तत्र तत्र तथा  
तथा।। न्यायमञ्जरी, भाग १, पृ० ४५.
२५. न्यायमञ्जरी, ग्रंथिभंग, पृ० ३३.
२६. पदानां हि द्वयी शक्तिरभिधात्री तात्पर्यशक्तिश्च। तत्राभिधात्री शक्तिरेषां  
पदार्थेषूपयुक्ता तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यतीति। न्यायमञ्जरी, भाग  
१, पृ० ३५८.
२७. द्रष्टव्य- न्यायमञ्जरी, १, पृ० ३६४-३७२.
२८. अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता । तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु  
संसर्गावगमावधिः।। वही, पृ० ३७२.



## अपभ्रंश जैन कवियों का रसराज - 'शांत रस'

डॉ० शंभु नाथ सिंह\*

आदिकाल अपभ्रंश काव्य के विकास में जैन कवियों का असाधारण योगदान रहा है। सभी कालों में काव्य-रचना के प्रधान विषय के रूप में मानव ही केन्द्रित रहा है। यही कारण है कि मानव जीवन के सभी पक्षों पर जैन कवियों ने अपनी लेखनी चलायी है। लेकिन उनकी लेखनी के नेपथ्य में धार्मिक विचारधारा ही मुख्य रही है। जहाँ तक अपभ्रंश भाषा के समय का प्रश्न है तो विद्वज्जन उसे ईसा की ५वीं शती से १०वीं शती तक मानते हैं लेकिन जब हम साहित्य की पड़ताल करते हैं तो हमें ८वीं शती से अपभ्रंश साहित्य मिलने प्रारम्भ होते हैं। ऐसे ९वीं से १३वीं शती तक अपभ्रंश साहित्य का समृद्ध काल माना जा सकता है, क्योंकि पुष्पदन्त, धवल, नयनन्दी, धाहिल आदि अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, नाटक, चम्पू आदि काव्यों की रचना जैन कवियों ने प्रचुर मात्रा में की है। अपभ्रंश जैन कवियों की विशेषता यह है कि उन्होंने परम्परा से चली आ रही मान्यता के विपरीत शान्त रस को प्रधानता दी है। परम्परा के अनुसार महाकाव्यों में शृंगार, वीर और शान्त रस में से किसी एक रस की प्रधानता होती है तथा अन्य रस गौण होते हैं, किन्तु अपभ्रंश जैन कवियों ने चाहे वह प्रेमकथा हो या तीर्थंकर चरित्र सभी में वीर रस, शृंगार रस आदि का प्रदर्शन करते हुए अन्त में संसार की असारता को दिखाते हुए उसका पर्यवसान शांत रस में किया है। इस प्रकार शृंगार जिसे 'रसराज' की संज्ञा से विभूषित किया जाता रहा है, के स्थान पर अपभ्रंश जैन कवियों ने 'शांत रस' को रसराज के रूप में प्रस्तुत किया।

सामान्य तौर पर शृंगार और शांत दो विरोधी रस हैं। शृंगार मनुष्य को कामासक्त बनाता है, वहीं शांत मनुष्य के वीर्य शक्ति का शमन करता है। अपभ्रंश जैन कवियों द्वारा रचे गये काव्यों में शृंगार और शांत रस गले मिलते नजर आते हैं। दोनों रसों का यह मिलन जैन काव्यों में देखा जा सकता है। शृंगार के रसराजत्व को धूमिल कर शांत रस को रसराजत्व प्रदान करना, अपभ्रंश कवियों की मौलिक विशेषता कही जा सकती है। वैसे जैन कवियों के काव्य में सभी रसों का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु उसका अन्त शम या निर्वेद में ही होता है। प्रस्तुत आलेख में हमने कुछ विशिष्ट ग्रंथों

\* क्वार्टर नं०- डी०टी० २२६९, पो०-धुर्वा, रांची-४

पर प्रकाश डालते हुए रसराज की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, क्योंकि अपभ्रंश काव्य विशाल भंडार अपने में संजोये हुए है। सभी को यहाँ स्पष्ट करना संभव नहीं है। प्रायः सभी अपभ्रंश रचनाओं में सभी रसों का समावेश हुआ है। इस सन्दर्भ में अपभ्रंश के पउमचरिउ, हरिवंशपुराण या रिटुणेमिचरिउ आदि काव्य ग्रन्थों को उद्धृत किया जा सकता है।

रस की दृष्टि से अपभ्रंश काव्यों में मुख्य रूप से तीन रसों का वर्णन मिलता है - शृंगार, वीर और शांत। काव्यों में सौन्दर्य वर्णन में शृंगार; पराक्रम व युद्ध वर्णन में वीर और संसार की नश्वरता बताने के लिए शांत रस का उल्लेख है, परन्तु शांत रस की प्रधानता अपभ्रंश काव्यों की विशेषता है। इनमें जीवन के यौवनावस्था में सुख भोग तथा सुंदरियों के साथ भोग विलास के प्रसंगों द्वारा शृंगार रस की व्यंजना की गई है, तो जीवन के कर्मक्षेत्र में अवतरित होकर कर्मभूमि में पराक्रम के दर्शन द्वारा वीर रस को अभिव्यक्त किया गया है। जहां वीरता के प्रदर्शन से चमत्कृत नायिका आत्मसमर्पण कर बैठती है, वहीं वीर रस शृंगार रस का सहायक होकर आता है। जहां झरोखे में बैठी सुन्दरी की कल्पना से नायक वीरता प्रदर्शन के लिए संग्राम भूमि में उतरता है, वहीं दूसरी ओर वह जीवन की असारता को जान दीक्षा भी ग्रहण करता है। इस प्रकार शृंगार और वीर दोनों रसों की कोई भी स्थिति हो, दोनों का पर्यवसान शांत रस में दिखाई देता है।

स्वयंभू विरचित 'पउमचरिउ' पाँच काण्ड और नब्बे संधियों में विभक्त है- उन्चालीसवीं सन्धि में जब सीता का हरण हो जाता है और राम सीता की खोज करते-करते जब थक जाते हैं तब कवि ने संसार की असारता को दिखाते हुए राम के मन में शान्त रस के द्वारा विरक्ति पैदा करने का प्रयत्न किया है- विरहानल ज्वाला से राम का शरीर तप्त है। खिन्न मन से वे विचार करते हैं कि सचमुच संसार में सुख नहीं है, सचमुच संसार में दुःख सुमेरु पर्वत के समान है। सचमुच जन्म, जरा-मरण का भय बना रहता है। सचमुच जीवन पानी के बुलबुले की भाँति क्षणभंगुर है। यह किसका घर? किसके माता-पिता और किसके सुधीजन? किसके पुत्र, किसके मित्र, किसकी स्त्री, किसका भाई, किसकी बहन, जब तक कर्मफल है तभी तक बन्धु और स्वजन हैं। ये ठीक उसी तरह हैं जैसे वृक्ष पर पक्षियों का वास होता है।'

पुष्पदंत विरचित 'महापुराण' महाकाव्य तीन खण्डों तथा १०२ संधियों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में ३७ संधि, द्वितीय खण्ड में ३८ से ८० संधि तथा तृतीय में ८१ से १०२ संधियाँ निबद्ध हैं। इन संधियों में २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेव, इन ६३ महापुरुषों के चरित्र का वर्णन है।

इसमें वीर, शृंगार और शांत तीनों रसों की अभिव्यंजना हुई है। महाकाव्य में एक ओर जहाँ वासुदेव और प्रतिवासुदेव के संघर्ष में वीर रस की सरसता है तो दूसरी ओर सीता के नख-शिख सौंदर्य का माधुर्य है। एक ओर वियोग वर्णन में हृदय को स्पर्श करने वाली करुण वेदना की चित्कार है तो दूसरी ओर निर्वेद भाव को जागृत करने वाला संसार की असारता का दिग्दर्शन है। इस प्रकार रस की दृष्टि से तीन रसों का वर्णन है- वीर, शृंगार और शांत। लेकिन वीर और शृंगार का समाहार शांत रस में होता है। सातवीं संधि में त्रिभुवन की सेवा करने वाले ऋषभदेव यह विचार करते हैं कि संसार में शाश्वत कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार नीलांजना नौ रसों का प्रदर्शन कर चली गई उसी प्रकार दूसरा भी संसार से चला जायेगा।<sup>२</sup> अनेक शरीरों का नाश करने वाले इस दारुण संसार में दो दिन रहकर कौन-कौन नरश्रेष्ठ नहीं गये। इस संसार में धन इन्द्रधनुष की भाँति क्षण में नष्ट हो जाता है। हाथी, घोड़े, रथ, धवल छत्र पुत्र कलत्र कुछ भी स्थायी नहीं है। सभी अन्धकार के समान नष्ट हो जाते हैं। कमल के घर में रहने वाली विमल लक्ष्मी नवजलधर के समान चंचल और विद्वानों का उपहास करनेवाली होती है। शरीर लावण्य और रंग एक पल में क्षीण हो जाते हैं और काल रूपी भ्रमर उन्हें मकरन्द की तरह पी जाता है। यौवन इस प्रकार विगलित हो जाता है मानो अंजुली का जल हो। मनुष्य इस प्रकार गिर जाता है जैसे पका हुआ फल हो।<sup>३</sup>

धनपाल विरचित 'भविसयतकहा' के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भविसयत जो एक वणिक पुत्र है की सम्पत्ति का वर्णन है। इस खण्ड में शृंगार रस की प्रधानता है। कवि ने नारी के सौन्दर्य को अंकित करने के साथ-साथ धार्मिक भावना की ओर भी संकेत किया है। द्वितीय खण्ड में कुरुराज और तक्षशिलाराज के मध्य हुए युद्ध का वर्णन है। इस खण्ड में वीर रस की प्रधानता है। युद्ध का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि घोड़ों के तीक्ष्ण खुर के अग्र भाग के संघर्षण से उद्भूत रज से तोरण रहित युद्धभूमि आच्छन्न हो गई। वह रज मानो जैसे योद्धाओं की क्रोधाग्नि से उत्पन्न धुँआ हो। तृतीय खण्ड में भविसयत तथा उसके मित्रों के पूर्वजन्म और भविष्य जन्म का वर्णन है। इस खण्ड में शान्त रस की प्रधानता है।

निष्पक्ष रूप से देखें तो शृंगार रस, वीर रस और शान्त रस का परिपाक इस ग्रन्थ में हुआ है। यदि कथा का विवेचन करें तो निश्चय ही इसमें वीर रस की प्रधानता परिलक्षित होती है। भविसयत द्वारा सुमित्रा को अपने शौर्य का परिचय देना तथा सिन्धु राजा का भविसयत द्वारा पराजित होना तत्पश्चात् सुमित्रा के साथ भविसयत का विवाह होना आदि वीर रस की प्रधानता को ही दर्शाता है। धीरता, वीरता, साहस आदि गुण भविसयत में कूट-कूट कर भरे हैं। इस प्रकार वीर रस का कथा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। लेकिन यहाँ वीर रस की परिणति शृंगार रस में है, कारण कि युद्ध के मूल में राज्य

प्राप्ति की कामना नहीं है बल्कि स्त्री संरक्षा है। इस प्रकार फलागम की दृष्टि से यहाँ वीर रस गौण हो गया है और शृंगार रस की प्रधानता हो गई है। लेकिन उसका पर्यवसान शान्त रस में होता है जिससे इसमें शान्त रस की प्रधानता हो जाती है।<sup>३</sup>

धवल विरचित हरिवंशपुराण १२२ सन्धियों में विभक्त है। ग्रन्थ में शृंगार, वीर, करुण और शान्त रस की अभिव्यंजना अनेक स्थलों पर मौजूद है। मनुष्यों द्वारा दुष्कर्म में प्रवृत्ति और इस संसार के प्रति मन में उत्पन्न नश्वरता को कवि ने निर्वेदपूर्ण संवेदना के रूप में प्रस्तुत किया है। कवि कहता है कि पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सदा किसके हुए हैं। ये सभी पानी के बुलबुले की भाँति हैं जो मेघवर्षा के जल के समान उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। या फिर जिस प्रकार एक वृक्ष पर बहुत से पक्षी आकर एकत्र हो जाते हैं और फिर चारों दिशाओं में अपने-अपने निवास को चले जाते हैं, इसी प्रकार प्रियजन भी क्षणिक होते हैं, आते हैं और चले जाते हैं।<sup>४</sup>

मुनि कनकामर विरचित 'करकंडचरित' १० सन्धियों में निबद्ध है। करकंडचरित एक धार्मिक काव्य है जो अनेक अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं से युक्त है। जैन धर्म का सदाचारमय जीवन ही कवि को अभिप्रेत है। उसने मुख्य नायक करकंडु के जीवन चरित्र के माध्यम से मानव आदर्श को स्थापित करने का प्रयास किया है। नायक में वीरता, स्वाभिमान, उत्साह, मातृ भक्ति आदि गुण कूट-कूट कर भरे हैं।

रस की दृष्टि से इसमें वीर रस, शृंगार रस और शान्त रस का बाहुल्य है। युद्ध में होने वाली विभिन्न क्रियाओं और चेष्टाओं का कवि ने सजीव चित्रण किया है। स्त्री सौन्दर्य में कवि ने कोई नये दृष्टान्त का प्रयोग न कर परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें शृंगार रस की अपेक्षा वीर रस को अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि समरभूमि में हुए युद्ध की परिणति विवाह में होती है लेकिन उसका पर्यवसान निर्वेद व शान्त में ही होता है। पुत्र वियोग में विलाप करती हुई स्त्री को देखकर राजा करकंडु को वैराग्य हो जाता है और वे मर्त्यलोक के दुःखसागर में डूब जाते हैं। कहते हैं सुख मधुबिन्दु के समान स्वल्प है। काल के प्रभाव से कोई नहीं बचता। युवा, वृद्ध, बालक, चक्रवर्ती, विद्याधर, किन्नर आदि सभी काल के वशीभूत हैं। यह संसार नश्वर है।<sup>५</sup> प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार कर्मों को भोगता है। वह अकेला ही आता है और अकेला ही जाता है।<sup>६</sup> इस काव्य में महाराज करकंडु की कथा वर्णित है। कवि ने महाराज करकंडु को घोर तपश्चर्या कराकर काव्य को शमप्रधान बना दिया है। पुत्र के लिए विलाप करने वाली स्त्री को देखकर करकंडु के मन में वैराग्य की उत्पत्ति होती है। यहाँ कवि ने सभी सुखों की स्थिति शान्त रस में बताई है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश काव्य की ऐसी अनेक रचनाएँ हैं जिनका पर्यवसान शान्त रस में हुआ है, जैसे- कवि पुष्पदन्त कृत जसहरचरित, नयनन्दी कृत सुदंसणचरित, धाहिलकृत पउमसिरीचरित, श्रीधर कृत पासणाहचरित, शालिभद्रसूरि रचित भरत बाहुबली रास आदि।

इस प्रकार अपभ्रंश के अनेक काव्यों एवं खण्ड काव्यों में शांतरस रसरज के रूप में प्रतिष्ठित है। प्रत्येक अपभ्रंश जैन कवि के काव्य में शांत रस चरम को प्राप्त करता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन धर्म मोक्ष में ही जीवन की अन्तिम परिणति को श्रेयस्कर मानता है।

प्रारम्भ में भरत मुनि ने इस रस को स्वतंत्र रूप में मान्य नहीं किया था। परन्तु अब साहित्य में शांत रस को स्वतंत्र रूप से मान्यता प्राप्त है। जैन कवियों द्वारा अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में जिस शांत रस को रसरज के रूप में प्रतिष्ठा मिली वही शांत रस कालान्तर में स्वतंत्र रस के रूप में प्रतिष्ठित होकर काव्य की शोभा बढ़ा रहा है। आधुनिक काव्यशास्त्रियों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने मोक्ष और अध्यात्म भावना से उत्पन्न इस रस को शांत रस की संज्ञा प्रदान की है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों में मम्मट के बाद अभिनवगुप्त ने शांत रस के स्थायीभाव को समझाया। तत्पश्चात् धनंजय और विश्वनाथ ने इसका शिल्प निर्धारण किया। फलतः रीतिकालीन कवियों ने मम्मट को अपना आदर्श मानकर इसे अपने काव्यों में महत्त्व प्रदान किया। केशवदास ने तो इसमें शम की प्रधानता होने से इसका नाम ही शम रस रख दिया।

जैन कवियों की यह मान्यता है कि जिस प्रकार छोटे-छोटे निर्झर किसी समुद्र में मिल जाते हैं उसी प्रकार सभी रसों का मिलन शांत रस में हो जाता है। अपनी इस मान्यता का सफल निर्वाह इन कवियों ने अपने काव्य में किया है। शान्त रस को रसरज के रूप में प्रतिष्ठित करना जैन कवियों का साहित्य जगत् को अनुपम योगदान कहा जा सकता है।

सन्दर्भ :

१. विरहाणल-जाल-पलित्त-तणु, चिंतेवए लग्गु विसण्णमणुं।।१।।  
सच्चउ संसारि ण अत्थि सुहु, सच्चउ गिगि-मेरुसमाणु दुहु।।२।।  
सच्चउ जर-जम्मण-भउ, सच्चउ जीविउ जलविंदु सउ।।३।।  
कहो घरु कहो परियणु बंधु जणु, कहो माय वप्पु कहो सहि सयणु।।४।।  
कहो पुत्तु-मित्तु कहो किर घरिणि, कहो भाय सहोयरु कहो बहिणि ।।५।।

फलु जाव ताव बंधव सयण, आवासिय पायवि जिह सउण॥६॥ पउमचरिउ,  
स्वयंभू, हिन्दी अनुवाद-देवेन्द्र कुमार जैन, प्रका०- भारतीय ज्ञानपीठ,  
काशी, वर्ष १९५८, ३९/११

२. कयतिहुयणसेवें चिंतिउ देवें जगि धुउ किं पि ण दीसइ।

जिह दावियणवरस गय णीलंजस तिह अवरु वि जाएसइ ॥१॥

इहसंसारेदारुणे बहुसरीरसंदारणे। वसिरुणं दो वासरा के के ण गया  
णरवरा॥१॥

पुणु परमेसरु सुसमु पयासइ.....णासइ।

हय गय रह भड धवलई छत्तई.....णं पिक्कउ फलु। महापुराण,  
सम्पा०- पी०एल० वैद्य, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९७९, ७/१

३. अहो नरिंद संसारि असारइ तक्खणि दिट्ठपणट्ठ वियारइ।

पावि मणुअजम्मुजण वल्लहु बहुभव कोडि सहासिं दुल्लहु।

जो अणुबंधु करइ रइ लंपट्टु तहो परलोए पुणुवि गउ संकडु।

जइ वल्लह विओउ नउ दीसइ जइ जोव्वणु जराए न विणासइ।

जइ उसरइ..... वि तो वि मं मज्झहि। भविसयतकहा, १८/१३/१

४. सुदि वंधव पुत्त कलत्त मित्त, ण वि कासुविदीसहिं णिच्चहंत।

जिम हुँति मरतिं असेस तेम, वुव्वु व जलि घणि विरिसंति जेम।

जिमसउणि मिलिवि तरुवरवसंति, चाउदिसि णिय वसाणि जन्ति। हरिवंशपुराण,  
९१/७

५. कम्मेण परिट्ठिउ जो उमरे जमराएं सो णिउ णिययपुरे।

जो बालउ बालहिं लालिहु सो विहिणा णियपुरि चालियउ।

णव जोव्वणि चडियउ जो पवरु जमु जाइ लएविणु सो जि णरु। करकंडचरिउ,  
९/५/१-४



## पाश्चात्य एवं जैन मनोविज्ञान में मनोविक्षिप्तता एवं उन्माद

डॉ० साधना सिंह\*

मन जब असंतुलित हो जाता है तब वह सामान्य स्थिति में नहीं रह पाता है और उसकी गतिविधि सामान्य व्यवहारों से भिन्न हो जाती है। मन की उस असामान्य अवस्था को ही मनोविक्षिप्तता कहते हैं। मनोविक्षिप्तता का ही एक रूप या प्रकार उन्माद समझा जाता है। मनोविक्षिप्तता एवं उन्माद के सम्बन्ध में जैन मनोविज्ञान ने भी विवेचन प्रस्तुत किये हैं और पाश्चात्य मनोविज्ञान में तो इनकी विस्तारपूर्वक चर्चा हुई है।

### पाश्चात्य मनोविज्ञान में मनोविक्षिप्तता एवं उन्माद

सर्वप्रथम उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में 'मनोविक्षिप्त' शब्द का प्रयोग मनोविज्ञान में देखा जाता है। उस समय इस शब्द के अन्तर्गत मानसिक विकार के समस्त पक्ष समाहित थे। किन्तु आजकल इसका प्रयोग मात्र मानसिक बिमारी के गम्भीर रूपों के लिए होता है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में उन व्यवहारों के लिए जो किसी मनोविक्षिप्त व्यक्ति के द्वारा होते हैं, उन्माद या पागलपन शब्दों के प्रयोग देखे जाने लगे। उस समय उन्माद को परिभाषित करते हुए फ्रांस के एक विद्वान् एस्क्वरोल ने कहा था 'उन्माद अथवा मानसिक अपहरण (मेन्टल एलाइनेशन) ज्वर रहित दीर्घकालिक प्रमस्तिष्कीय भाव है, जिसमें संवेदनशीलता अवबोध, बुद्धि तथा संकल्प के विकारों की विशेषता होती है।' इस परिभाषा से ऐसा लगता है कि उन्माद का क्षेत्र बहुत विस्तृत था, परन्तु बाद में चलकर मनोविक्षिप्तता एवं उन्माद में भेद किया जाने लगा, जिससे उन्माद का क्षेत्र मनोविक्षिप्तता के क्षेत्र से बहुत कम हो गया और यह भी समझा जाने लगा कि जितनी गम्भीरता मनोविक्षिप्तता में होती है, उतनी उन्माद में नहीं होती। उन्माद मनस्ताप का एक प्रकार होता है। मनस्ताप और मनोविक्षिप्तता की तुलना करते हुए कहा गया है कि मनोविक्षिप्त की अपेक्षा मनस्ताप में गम्भीरता कम होती है, क्योंकि मनोविक्षिप्तता एक मुख्य मानसिक बीमारी होती है जिसके द्वारा पूरा व्यक्तित्व ग्रस्त होता है। मनोविक्षिप्तता की हालत में व्यक्ति कुछ करने की स्थिति में नहीं होता जबकि मनस्ताप की अवस्था में वह अपना कार्य कर लेता है और उसे अपने लक्षणों का भी

\* ए/१३, बेउर जेल रोड, पाटलीपुत्र केन्द्रीय स्कूल के समीप, अनीसाबाद, पटना



ज्ञान होता है। मनोविक्षिप्त रोगी वास्तविकता से बहुत दूर हो जाता है, इसलिए वह अपने तथा दूसरों के लिए खतरनाक समझा जाता है। वह नियंत्रण से बाहर होता है, इसलिए उसे मानसिक रोग के चिकित्सालय में भेज दिया जाता है।

### मनोविक्षिप्त के लक्षण

( १ ) भ्रान्ति ( डिल्यूजन ) : मनोविक्षिप्त रोगी में भ्रान्तियाँ देखी जाती हैं। वह किसी प्रमाण और तर्क को स्वीकार नहीं करता। सामान्य व्यक्ति तर्क और प्रमाण प्राप्त हो जाने पर अपनी गलती या अन्धविश्वास को सुधार लेता है, किन्तु मनोविक्षिप्त रोगी ऐसा नहीं करता क्योंकि वह तर्क को नहीं मानता।

( २ ) विभ्रम ( होलिसिनेशन ) : मनोविक्षिप्त को बिना बाह्य उद्दीपक के ही वस्तु का प्रत्यक्षीकरण होने लगता है।

( ३ ) अनभिविन्यास ( डिसोरिएन्टेशन ) : अनभिविन्यास की स्थिति में मनोविक्षिप्त रोगी को वास्तविकता से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। वह यह भी नहीं जानता है कि वह कौन है, कहाँ है, कौन-सा दिन है, कौन-सा सप्ताह है, आदि।

( ४ ) संवेगात्मक विक्षोभ ( इमोशनल डिस्टर्बेन्स ) : मनोविक्षिप्त रोगी प्रायः कई तरह के संवेगात्मक विक्षोभों से ग्रस्त होता है। कुछ में आवेग की मात्रा अधिक होती है तो कुछ में संवेगात्मक अनुक्रिया की कमी होती है। आवेगी रोगी के विषय में यह नहीं जाना जा सकता कि वह कब क्या कर बैठेगा। वह अकस्मात् क्रोध, आक्रमण और कामुकता प्रदर्शित करने लगता है, जिनमें संवेगात्मक अनुक्रिया की कमी होती है, वे न मुस्कुराते हैं और न हँसते ही हैं।

### उन्माद

उन्माद एक प्रकार का मनस्ताप होता है। मनस्ताप को परिभाषित करते हुए अमेरिकन साइकियाट्रिक एसोसिएशन ने कहा है—

‘मनस्तापीय विकारों की विशेषता यह है कि इनमें विभिन्न मात्राओं में व्यक्तित्व-विघटन होता है। विभिन्न क्षेत्रों में बाह्य वास्तविकता, सही परीक्षण और मूल्यांकन की क्षमता समाप्त हो जाती है। इसके अलावा इन रोगों से पीड़ित व्यक्ति अन्य लोगों और अपने कार्यों से स्वयं को सम्बद्ध करने में असफल रहते हैं।’<sup>२</sup>

मनस्तापों में कुछ ऐसे होते हैं जिनमें संवेग भाव तथा मूड के तीव्र विकार पाये जाते हैं। उनकी दो श्रेणियां होती हैं :-

( १ ) उन्माद-अवसाद मनस्ताप ( मेनिक डिप्रेसिव साइकोसिस )

( २ ) प्रत्यक्कालिक मनस्ताप प्रतिक्रियाएँ ( इन्वोल्यूशनल साइकोटिक रिएक्शन )

उन्माद-अवसाद मनस्ताप के सम्बन्ध में विभिन्न विवेचन प्राचीन काल के मिस्री, यहूदी तथा यूनानी चिन्तकों के लेखों से मिलते हैं। यूनान के एक प्रख्यात चिकित्सक हिप्पोक्रेटीज ने मानसिक रोगों का विश्लेषण करते हुए उनके तीन प्रकार बताये हैं- उन्माद, अवसाद तथा मस्तिष्क शोथ (फ्रेनिटिस)।

### उन्माद-अवसाद के सामान्य लक्षण

उन्माद-अवसाद के रोगियों के सम्बन्ध में यह बताया गया है कि कुछ में केवल उन्माद होता है तो कुछ में सिर्फ अवसाद। परन्तु ऐसे भी रोगी पाये जाते हैं जिनमें बारी-बारी से उन्माद और अवसाद दोनों ही होते हैं। उन्माद अवसाद में प्रमुख रूप से संवेग का हाथ होता है। रोगी उल्लास तथा विवाद के तीव्र संवेगों का अनुभव करता है। उन्माद की स्थिति में वह ज्यादा आशावादी हो जाता है। उसमें उत्साह बढ़ जाता है और कार्यों में गतिशीलता आ जाती है। उन्माद की स्थिति में व्यक्ति में न तो एकाग्रता होती है और न कामवासना सम्बन्धी प्रतिबन्ध। वह अपने को महान शासक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि समझने लगता है।

अवसाद से पीड़ित व्यक्ति में उदासी बढ़ जाती है और उसे एकाकीपन महसूस होता है। उसे ऐसा लगता है कि दुनियाँ दुःखमय है। वह हमेशा चिन्तित रहता है, उसकी गति शिथिल हो जाती है, आवाज धीमी हो जाती है। वह स्वयं अपने को विभिन्न अपराधों का दोषी समझने लगता है।

### उन्माद के प्रकार

उन्माद के तीन प्रकार होते हैं :-

( १ ) अल्पोन्माद ( हाइपोमैनिया ) : यह उन्माद का सबसे मन्द रूप है। इसमें रोगी को थोड़ा उल्लास मालूम पड़ता है। उसे अपनी योग्यता में विश्वास बढ़ जाता है और उसकी गति तीव्र हो जाती है। वह लगातार काम करने पर भी थकान नहीं महसूस करता है। बातचीत करते समय वह अधिक बोलता है और विरोध करनेवालों को कम बुद्धिवाला समझता है। वह पैसे भी अधिक खर्च करता है।

( २ ) तीव्र उन्माद ( एक्यूटमैनिया ) : इसमें अल्पोन्माद के सभी लक्षण देखे जाते हैं किन्तु अल्पोन्माद में लक्षण कम मात्रा में होते हैं जबकि तीव्र उन्माद में उनकी मात्रा अधिक हो जाती है और तीव्रता बढ़ जाती है। रोगी एक मिनट भी शान्त नहीं बैठ पाता है और उसकी प्रवृत्ति आक्रामक हो जाती है। वह तोड़-फोड़ और मार-पीट भी करने लगता है। उसकी बातों में इतनी तीव्रता आ जाती है कि वह निरर्थक जान पड़ती है। उसे समय, स्थान और व्यक्ति को पहचानने में भी कठिनाई होती है।

कभी-कभी उसमें अन्तर्दृष्टि भी उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण वह अपने किये कर्मों के लिए क्षमायाचना भी करता है।

(३) प्रलापी उन्माद ( डिलीरियलमैनिया ) : यह उन्माद की तीव्रतम अवस्था होती है। इसमें उन्माद का पूर्णतः विकास हो जाता है। इसमें रोगी को किसी बात का होश नहीं रहता। उससे किसी विषय पर बात करना असंभव हो जाता है। उसमें आक्रामक तथा विध्वंससात्मक गतिविधियां बढ़ जाती हैं। उसके चेहरे में परिवर्तन तथा आँखों में चमक दिखाई देती है। उसके व्यवहार असामान्य हो जाते हैं। जैसे भोजन के लिए कहने पर वह इन्कार करता है और क्षणभर में ही खाना शुरू कर देता है।

अवसाद मनस्ताप के भी तीन प्रकार होते हैं :-

- (१) सरल अवसाद (सिम्पुल डिप्रेसन)
- (२) तीव्र अवसाद (एक्यूट डिप्रेसन)
- (३) अवसादी जड़िमा (डिप्रेसन स्टुपर)

### उन्माद के कारण

उन्माद के कारणों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—

(१) मनोवैज्ञानिक कारण : उन्माद का रोगी स्वयं को वास्तविक जगत् में खो देना चाहता है। यदि वह किसी से प्रेम करने में असफल हो जाता है तो विभिन्न क्लबों, पार्टियों आदि में वह अपने को इतना व्यस्त रखना चाहता है कि वह अपने मनस्ताप को भूल जाये। वह हमेशा अपने को व्यस्त रखता है और अपनी शक्ति का व्यय करता है। इस प्रकार वह अपने को झूठा विश्वास दिलाता है कि वह बड़ी से बड़ी समस्या का भी सामना कर सकता है।

(२) सामाजिक कारण : उन्माद का रोगी निम्न वर्गों में ज्यादा पाया जाता है। सामाजिकता या आर्थिकता की दृष्टि से जो वर्ग निम्न स्तर पर होते हैं, उन्हीं में मनस्ताप का रोग ज्यादा देखा जाता है। अध्ययन के आधार पर उन्माद रोग के सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारी हुई है—

(क) उच्च शैक्षिक, व्यावसायिक, सामाजिक, आर्थिक स्तरों के लोगों में निम्नस्तरीय लोगों की अपेक्षा उन्माद कम होता है।

(ख) ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरों में उन्माद की मात्रा तिगुनी होती है। कह सकते हैं कि गाँव की तुलना में शहर में तिगुने उन्मादी होते हैं।

(ग) विवाहित तथा विधुरों की अपेक्षा तलाक लेनेवालों में या अन्य किसी कारण से अलग होनेवाले स्त्री-पुरुषों में उन्मादी की संख्या अधिक होती है।

## उपचार ( ट्रीटमेंट )

उन्माद के रोगियों का उपचार करते समय चिकित्सक का मुख्य उद्देश्य रोगी की अति सक्रियता (हाइपरएक्टिविटी) को कम करना है। इस उद्देश्य के लिए विभिन्न प्रशान्तक (ट्रैक्विलाइजर्स) और मनस्तापरोधक औषधियाँ उपलब्ध हैं। कुछ रोगियों के लिए विद्युत-आघात चिकित्सा (एलेक्ट्रो शाकथेरापी) और सुषुप्ति चिकित्सा (नारको थेरापी) आवश्यक हो जाती है। सुषुप्ति चिकित्सा द्वारा रोगी को लम्बे समय तक सोने दिया जाता है। यद्यपि इन उपचारों द्वारा उन्माद-चक्र (मैनिक साइकिल) की अवधि कम नहीं होती तथा उसकी तीव्रता को कम करके उसकी सक्रियता का उपयोग निर्माणात्मक कार्यों के लिए किया जा सकता है।

उन्माद विकार के इलाज के लिए रोगी को अस्पताल में भी दाखिल करा दिया जाता है ताकि उसकी देखभाल की जा सके। इस प्रकार के विकार के इलाज में रोगी को बाह्य उद्दीपन के प्रभाव से बचाना आवश्यक होता है। इसके साथ-साथ रोगी का विश्वास प्राप्त करना चाहिए और अनावश्यक अवरोध तथा चिड़चिड़ाहट पहुँचाने वाले स्त्रोतों को भी दूर रखना चाहिए। विद्युत तरंगों अथवा मेट्राजोल द्वारा चिकित्सा के परिणाम एक समान निकलते हैं, किन्तु मेट्राजोल का प्रयोग सापेक्षतः सरल होता है।

## जैन मनोविज्ञान में क्षिप्तता एवं उन्माद

जैन मनोविज्ञान में चित्त के दो रूप बताये गये हैं—क्षिप्त चित्त तथा दिप्त चित्त, जो निम्न प्रकार से जाने जा सकते हैं—

क्षिप्त चित्त :

“क्षिप्तं-नष्टं राग-भया-ऽपमानंश्चितं यस्याः सा क्षिप्तचित्ता।”

अर्थात् जिसका (निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी का) राग-भय अथवा अपमान के द्वारा चित्त नष्ट हो गया है वह व्यक्ति क्षिप्तचित्त कहलाता है।<sup>3</sup> तीन निम्न कारणों से व्यक्ति क्षिप्तचित्त होता है। इनका स्वरूप समझाने के लिए विविध उदाहरण दिये गये हैं। यथा—

**राग के कारण :** अपने पति की मृत्यु के समाचार से वणिक् की पत्नी क्षिप्तचित्ता हो गयी।<sup>4</sup>

**भय के कारण :** सहसा चारों ओर से घिरकर मनुष्य भय के कारण क्षिप्तचित्त हो जाता है। जैसे-जनार्दन के भय से सोमिल नाम का ब्राह्मण क्षिप्तचित्त हो गया।<sup>5</sup>

**अपमान के कारण :** किसी वाद-विवाद में पराजित होकर कोई निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी क्षिप्तचित्त हो जाती है।<sup>6</sup>

## क्षिप्तचित्त व्यक्ति का लक्षण

(१) क्षिप्तचित्त होने से व्यक्ति इधर-उधर परिभ्रमण करता है। साथ ही वह पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस आदि षट्कायिक जीवों की विराधना करता है।

(२) अग्नि आदि के द्वारा क्षिप्तचित्त व्यक्ति धान्यादि को जला देता है, वह स्वयं अपने को तथा दूसरे को भी मारता-पीटता है। जब वह दूसरे को मारता-पीटता है तो लोग उसे भी मारते-पीटते हैं।

(३) आश्रव-द्वारों में चिरकाल तक क्षिप्तचित्त व्यक्ति बहुत प्रकार से लोक और लोकोत्तर विरुद्ध प्रलाप करता है।

## दीप्तचित्त :

क्षिप्तचित्त के ठीक विपरीत स्वभाववाला दीप्तचित्त होता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में अन्तर यह है कि क्षिप्तचित्त प्रायः मौन रहता है जबकि दीप्तचित्त अनावश्यक बक-बक किया करता है। दीप्तचित्त को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जिनका हृदय लाभ आदि के मद से परवश हो गया हो, वह दीप्तचित्त है।<sup>१०</sup> दीप्तचित्त होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि क्षिप्तचित्त होने का मुख्य कारण अपमान है, जबकि विशिष्ट सम्मान से मद होने के कारण व्यक्ति दीप्तचित्त हो जाता है। लाभ मद से मत्त होने पर अथवा दुर्जय शत्रुओं की जीत के मद से उन्मत्त होने पर, जैसे सातवाहन दीप्तचित्त हो गया था या फिर इसी प्रकार किसी अन्य कारण से व्यक्ति दीप्तचित्त बनता है।<sup>११</sup>

## क्षिप्तचित्त व्यक्ति का उपचार

आगमों में ऐसा वर्णन मिलता है कि मानसिक रोगों से ग्रसित रोगियों की चिकित्सा का आयोजन किया जाता था। भूत-पिशाच आदि से विक्षिप्त चित्त हो जाने पर रोगी को कोमल बन्धन से बाँधकर शस्त्र आदि से रहित स्थान में रखने का विधान बताया गया है। यदि कहीं ऐसा स्थान न मिले तो रोगी को पहले से ही खुदे हुए गड्ढे या नया गड्ढा खुदवाकर उसमें रख देने का विधान है, जिससे रोगी बाहर न निकल सके। यदि वात आदि के कारण धातुओं का क्षोभ होने पर कोई विक्षिप्तचित्त हो गया हो तो रोगी को स्निग्ध और मधुर भोजन देने और उपलों की राख पर सुलाये जाने का विधान है। यदि कोई साधु विक्षिप्तचित्त होकर भाग जाता है तो उसकी खोज करने और यदि वह राजा आदि का रिश्तेदार है तो राजा से निवेदन करने का विधान बताया गया है।<sup>१२</sup> यदि राजा आदि का लड़का क्षिप्तचित्त हो जाता है और राजा यदि कहता है तो साधु

स्वयं वहाँ जाकर मन, वचन और सेवारूप शरीर द्वारा प्रतिदिन उसका चित्त शान्त करे।<sup>१०</sup> इसी तरह साध्वी के यक्षाविष्ट हो जाने पर भूत-चिकित्सा का भी विधान जैनागमों में देखने को मिलता है।<sup>११</sup>

## उन्माद

उन्मत्तता अर्थात् जिससे स्पष्ट या शुद्ध चेतना (विवेकज्ञान) लुप्त हो जाये, उसे उन्माद कहते हैं। उन्माद नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में पाया जाता है।

## उन्माद के प्रकार

भगवतीसूत्र में उन्माद के दो रूप बताये गये हैं- (१) यक्षावेश उन्माद एवं (२) मोहनीयजन्य उन्माद। यक्षावेश उन्माद का सुखपूर्वक वेदन किया जाता है और उसे सुखपूर्वक छोड़ाया यानी विमोचन कराया जा सकता है। मोहनीयजन्य उन्माद का दुःखपूर्वक वेदन होता है और उससे दुःखपूर्वक ही छुटकारा पाया जा सकता है।<sup>१२</sup>

**यक्षावेश उन्माद** : शरीर में भूत, पिशाच, यक्ष आदि देव विशेष के प्रवेश करने से जो उन्माद होता है, वह यक्षावेश उन्माद कहलाता है।<sup>१३</sup> नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक चौबीस दण्डकवर्ती जीवों में इन दोनों प्रकार के उन्माद पाये जाते हैं। किन्तु इनकी उत्पत्ति के कारण में थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। यथा-चार प्रकार के देवों को छोड़कर नैरयिकों, पृथ्वीकायादि तिर्यञ्चों और मनुष्यों पर कोई देव अशुभ पुद्गलों का प्रक्षेप करता है, तब वे यक्षावेश-उन्माद ग्रस्त होते हैं, पर देवों में ऐसा नहीं देखा जाता है। उन चार प्रकार के देवों पर कोई उनसे भी महर्द्धिक देव अशुभ पुद्गल प्रक्षेप करता है तो वे यक्षावेश उन्माद से ग्रस्त होते हैं।

**मोहनीयजन्य उन्माद** : मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा के पारमार्थिक विवेक का नष्ट हो जाना यानी सत्-असत् के ज्ञान का नष्ट हो जाना मोहनीय उन्माद कहलाता है। मिथ्यात्वमोहनीय उन्माद और चारित्र-मोहनीय उन्माद इसके दो रूप होते हैं। मिथ्यात्वमोहनीय उन्माद के होने से जीव तत्त्व को अतत्त्व तथा अतत्त्व को तत्त्व समझता है। ठीक इसी तरह चारित्रमोहनीय के होने से जीव विषयादि के स्वरूप को जानता हुआ भी अज्ञानी के समान उसमें प्रवृत्ति करता है, या फिर चारित्रमोहनीय की वेद नामक प्रकृति के उदय से जीव हिताहित भान भूलकर स्त्री आदि में आसक्त हो जाता है या फिर मोह के नशे में पागल हो जाता है। तीव्र वेद (काम) के उदय होने से पीड़ित (उन्मत्त) जीव के दस लक्षण बताये गये हैं <sup>१४</sup> :-

- (१) तीव्र काम से उन्मत्त व्यक्ति विषयों, कामभोगों या स्त्रियों आदि का चिन्तन करता है।

- (२) फिर उन्हें देखने के लिए लालायित होता है।
- (३) उसकी प्राप्ति नहीं होने पर दीर्घ निःश्वास डालता है।
- (४) तत्पश्चात् कामज्वर उत्पन्न हो जाता है।
- (५) अग्नि में जले हुए व्यक्ति के समान पीड़ित हो जाता है।
- (६) खाने-पीने में अरुचि हो जाती है।
- (७) कभी-कभी मूर्च्छा भी आ जाती है।
- (८) वह उन्मत्त होकर बड़बड़ाने लगता है।
- (९) काम के आवेश में उसका विवेकज्ञान लुप्त हो जाता है।
- (१०) कभी-कभी मोहावेशवश उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

### उन्मत्तता दूर करने के उपाय

जैन साहित्य में उन्मत्तता दूर करने के उपायों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, फिर भी कहीं-कहीं संकेत रूप में वर्णन किया गया है। यक्षावेश उन्माद का सुखपूर्वक वेदन और विमोचन हो जाता है, किन्तु मोहजन्य उन्माद दुःखपूर्वक वेद एवं मोच्य होता है। यक्षावेश उन्माद का सुखपूर्वक वेदन इसलिए होता है कि वह अधिक से अधिक एकमाश्रयी होता है जबकि मोहनीय उन्माद का अर्थ भवों तक चलता है। अतः इसे छुड़ाना बड़ा ही कठिन होता है। विद्या, मंत्र, तंत्र, इष्टदेव या अन्य देवों द्वारा भी उसका छुड़ाया जाना अशक्य-सा होता है। यक्षावेश उन्मत्त व्यक्ति को बेड़ी, बन्धन आदि में डाल देने से वह वश में हो जाता है, किन्तु मोहनीय जन्य उन्माद से पीड़ित व्यक्ति को सर्वज्ञ या मंत्रवादी महापुरुष भी ठीक नहीं कर सकता है।

### तुलना

जैन मनोविज्ञान एवं पाश्चात्य मनोविज्ञान दोनों में मन की असामान्य स्थितियों के विवेचन हुए हैं। दोनों ने ही यह माना है कि चित्त या मन में जब किसी कारण से विकृति आ जाती है तब व्यक्ति के व्यवहार सामान्य लोगों के व्यवहार से भिन्न हो जाते हैं। जैन मनोविज्ञान ने दो प्रकार के चित्त की चर्चा की है-क्षिप्तचित्त तथा दीप्तचित्त। क्षिप्त चित्त में राग, भय, अपमान आदि कारण होते हैं। दीप्तचित्त में अधिक मान, लाभ, जय आदि काम करते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान मनोविक्षिप्त रोगी में समस्त मनोविकारों को समाहित करता है। आगे चलकर उसी के एक प्रकार के रूप में उन्माद को प्रस्तुत करता है। किन्तु जिस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान में मनोविक्षिप्तता का विस्तारपूर्वक विश्लेषण हुआ है, उस तरह जैन मनोविज्ञान में विवेचन नहीं हो पाया है। जैन मनोविज्ञान में उन्माद दो प्रकार के माने गये हैं- (१) यक्षावेश उन्माद जिसमें

भूत, पिशाच, यक्ष, देव आदि को कारण बताया गया है, (२) मोहनीयजन्य उन्माद मोहनीय कर्म के कारण होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में उन्माद के प्रकार तो बताये गये हैं, परन्तु वे प्रकार उन्माद की तीव्रता और मन्दता पर आधारित हैं, जबकि जैन मनोविज्ञान में उन्माद के प्रकार, उसके कारणों पर आधारित हैं। जिस तरह जैन मनोविज्ञान में भूत, पिशाच और कर्म आदि को उन्माद के कारण के रूप में स्वीकार किया गया है, उस तरह की चीज पाश्चात्य मनोविज्ञान में बिल्कुल नहीं है।

जहाँ तक चिकित्सा की बात है तो जैन मनोविज्ञान में जो उपचार बताये गये हैं वे बहुत सामान्य और अविकसित हैं, जबकि पाश्चात्य मनोविज्ञान में मनोविकृति को दूर करने के लिए 'साइकोलॉजिकल थेरापी' आदि वैज्ञानिक उपचार किये जाते हैं।

सन्दर्भ:

१. एस्विक्वरोल, जे० ई० डी०, डेस मैलेडीज मेन्टेल्स, पेरिस : बेलियेरे, १९३८,
२. मखीजा एण्ड मखीजा, असामान्य मनोविज्ञान : पृ० ३०७
३. रागेण वा भएण व, अहवा अवमाणिया णरिदेण।  
एतेहिं खितचित्ता, वणिताति परूविता लोए॥ बृहत् कल्पसूत्रम्, भाग-६,  
सम्पा०-चतुरविजय-पुण्यविजयजी, प्रका०- श्री जैन आत्मानन्द सभा,  
भावनगर, १९४२, गाथा ६१९५
४. वही
५. भयओ सोमिलबडुओ, सहसोत्थरिया य संजुगादीसु।  
णरवतिणा व पतीण व, विमाणिता लोगिगी खेत्ता॥ वही, ६१९६,
६. रागम्मि रायखुड्डी, जड्ढाति तिरिक्ख चरिय वातम्मि।  
रागेण जहा खेत्ता, तमहं वोच्छं समासेणं॥ -वही, ६१९७,
७. छक्कायाण विराहण, झामण तेणे निवायणे चेव।  
अगड विसमे षडेज्ज व, तम्हा रक्खंति जयणाए॥ -वही, ६२१०,
८. वही, सूत्र ११, गाथा ६२४१,
९. लाभमएण व मत्तो, अहवा जेरुण दुज्जए सत्तु।  
दित्तम्मि सायवाहणों तमहं वोच्छं समासेण॥ -वही, ६२४३,
१०. व्यवहारभाष्य, २१/२२-२५,  
निशीथभाष्यपीठिका-१७३,



५२ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ३/जुलाई-सितम्बर २००८

११. रन्नो निवेइयम्मिं तेसिं वयणे गवेसणा होति।

ओसह वेज्जा संबंधुवस्सए तीसु बी जयणा।। -बृहत् कल्पसूत्रम्, ६२१९,

१२. तस्स य भूततिगिच्छा, भूतरवावेसणं सयं वा वि।

णीउत्तमं च भावं णाउं किरिया जहा पुव्वं।। -वही, ६२६२,

१३. गोयमा। दुविहे उम्मादे पण्णत्ते, तं जहा जक्खाएसे य मोहणिज्जस्स य कमस्स उदएणं। तत्थ णं जे से जक्खाएसे से णं सुहवेयणतराए चेव, सुहविमोयणतराए चेव। तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं से णं दुहवेयणतराए चेव, दुहविमोयणतराए चेव। व्याख्याप्रज्ञप्ति, सम्पा०- युवाचार्य मधुकर मुनि, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, (राज०), १४/२/१,

१४. भगवती आराधना, सम्पा०- पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका०- जैन संरक्षक संघ, सोलापुर, २००६, गाथा ८८७-८८९



## जैन दर्शन में जीव का स्वरूप

नीरज कुमार सिंह\*

आत्मा, कर्म-पुनर्जन्म, मोक्ष आदि भारतीय चिन्तन के आधारभूत तत्त्व हैं। प्राचीनकाल से दर्शनशास्त्र स्वतंत्र, स्वयंभू और सृष्टि संचालक तत्त्व के रूप में जीव तत्त्व की खोज करता आ रहा है। उपनिषदों में जीव/चेतना और ब्रह्म सम्बन्धी विचारों का स्वरूप सर्वशक्तिमान के रूप में उपलब्ध होता है। चार्वाक दर्शन चाहे आत्मा/जीव की शाश्वतता को स्वीकार नहीं करता, फिर भी चार भूतों के मिश्रण से प्राप्त जीवशक्ति को स्वीकार करता है। न्याय-वैशेषिक जीवात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं लेकिन आत्मा को एक ऐसा द्रव्य मानते हैं जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में विद्यमान रहते हैं। जीव या आत्मा एक ऐसा तत्त्व है, जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान नित्य और विभु है। सांख्य-योग दर्शन का जीव अकर्ता, अभोक्ता, अज और शाश्वत है। यह जीव त्रिगुणातीत सत्त्व, रज और तम से मुक्त और निर्लिप्त है। मीमांसक जीव को अमर मानते हुए कहते हैं कि मृत्यु के उपरान्त भी जीव विद्यमान रहता है, अपने किये शुभ कर्मों के योग से स्वर्ग जाता है। प्रभाकर मतानुसार जीव में ज्ञान, सुख-दुःख आदि अनेक गुण विद्यमान रहते हैं। बौद्ध दर्शन में रूप-वेदना-विज्ञान-संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्ध समूह के अनुरूप विज्ञान शक्ति को जीव स्वीकार किया गया है। इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों ने आत्मतत्त्व को विभिन्न रूपों में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ सांख्य और वेदांत दर्शन में वह कूटस्थ नित्य है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन एवं परिणमन मान्य नहीं। ज्ञान, सुख-दुःखादि परिणाम प्रकृति अथवा अविद्या जनित हैं। वैशेषिक और नैयायिक ज्ञानादि को जीव का गुण मानते हुए जीव को एकान्त नित्य और अपरिणामी स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन में जीव एकान्तक्षणिक अर्थात् निरन्वय परिणामों का प्रवाह मात्र है। अन्य दर्शन जिसे आत्मा कहते हैं उसे ही जैन दर्शन जीव के नाम से सम्बोधित करता है। जैन दर्शन के अनुसार जिस प्रकार प्राकृतिक जड़ पदार्थ न तो कूटस्थनित्य है और न एकान्त क्षणिक, उसी प्रकार आत्मा भी एकान्त नित्य एवं एकान्त परिणमनशील नहीं है। आत्मा परिणामी नित्य है। दर्शन की दृष्टि से चेतना जीव की एक सूक्ष्म अभौतिक बोधात्मक शक्ति है, जो ज्ञान, दर्शन, इन दो रूपों में अभिव्यक्त होती है। विस्तृत रूप में जैन दर्शन में आत्मा का

\* वीर कुंवर सिंह कालोनी, पोखरा मोहल्ला, हाजीपुर-८४४१०१

अस्तित्व शाश्वत होते हुए भी कर्मबद्ध होने से परिवर्तनशील है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की त्रिपदी पदार्थ की शाश्वतता उजागर करती है।

### जीव का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार विश्व दो तत्त्वों की संयुति है - १. जीव और २ अजीव। इनको विस्तार की दृष्टि से अनेक भेदों में देखा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। 'जीव-सजीवत् जीवति जीवितध्वतीति जीवः' अर्थात् जो जीता था, जीता है और जीता रहेगा, उसे जीव कहते हैं। सांसारिक दृष्टि से पांच इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य, मन-वचन-काय, इन दस प्राणों में जीव जीवित रहता है।<sup>१</sup>

### जीव का लक्षण : बोधगम्यता

आत्मभूत और अनात्मभूत की दृष्टि से जीव के दो प्रकार से लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। आत्मभूत, वह लक्षण है जो पदार्थ अथवा वस्तु के साथ संलग्न रहता है, वस्तु में निहित होता है, जब कि अनात्मभूत लक्षण वस्तु के बाहर रहकर अपनी पहचान बनाता है। जिस प्रकार ज्ञान और दर्शन जीव का आत्मभूत लक्षण है, उसी प्रकार उसका अनात्मभूत लक्षण है।

तत्त्वार्थसूत्र में जीवकू लक्षण 'उपयोग' बताया गया है।<sup>२</sup> उपयोग का अर्थ होता है - बोधगम्यता यानी चेतना की प्रवृत्ति। यह लक्षण समस्त जीवों में निश्चित रूप से पाया जाता है। बोधरूप व्यापार ही उपयोग है। उपयोग द्वारा चेतना यानी जीव की पहचान होती है। बोध का कारण चेतन शक्ति है। चेतन शक्ति आत्मा में ही होती है, जड़ में नहीं। आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं, उनमें मुख्य उपयोग ही है। जानने की शक्ति समान होने पर भी जानने की क्रिया सब आत्माओं में समान नहीं होती। यहाँ जीव के विभेदक गुण को प्रकाशित किया गया है। जैसे- मनुष्य का विभेदक गुण विवेक है, उसी प्रकार जीव का विभेदक गुण उपयोग है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये सभी जीव के लक्षण हैं।<sup>३</sup> संक्षेप में इन लक्षणों को दो विभागों में बांटा जा सकता है - १. वीर्य, २. उपयोग। चारित्र और तप को वीर्य में एवं ज्ञान और दर्शन को उपयोग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यद्यपि जीव का लक्षण उपयोग ही सार्थक प्रतीत होता है, क्योंकि वह ज्ञान, दर्शन, सुख-दुःख से जाना जाता है। गति करना, घटना, बढ़ना, फैलना जीव के लक्षण नहीं बन सकते। ये सभी क्रियायें अजीव में भी देखी जाती हैं। ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति जीव-अजीव की भेद-रेखा है।<sup>४</sup>

चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों ने आत्मा को चेतन, कर्ता, भोक्ता आदि स्वीकार किया है। जैन दर्शन में भी आत्मा को कर्ता-भोक्ता माना गया है। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया है कि वह अन्तहीन और अन्तरहित है। जब हम कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा कर्ता, भोक्ता और चेतन है तो इस विचार के पोषक के रूप में वर्गसों की भी याद आती है, क्योंकि उसने भी यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक आत्मा एक पृथक् तत्त्व है, नित्य है, अनिष्पन्न है, अविनश्वर है और अदृश्य है। वह पूर्ण अनुभव करता है, स्वतंत्र है और द्रष्टा है। जैन दर्शन में मान्य जीव के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए डॉ० चन्द्रधर शर्मा ने कहा है- 'जैन दर्शन जीव को ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता मानता है। ज्ञान जीव का स्वरूप गुण है, अतः वह स्वाभाविक रूप से ज्ञाता है। जीव कर्मों का वास्तविक कर्ता है और इसलिए कर्मफलों का वास्तविक भोक्ता भी है। जीव अस्तिकाय द्रव्य है, किन्तु उसका आकाश में पुद्गल के समान विस्तार नहीं होता। जीव भौतिक शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से भिन्न है। सांसारिक जीवों के शरीर, इन्द्रिय और मन होते हैं, जिनसे इन्हें लौकिक ज्ञान में सहायता मिलती है, किन्तु वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पौद्गलिक हैं, कर्म द्वारा स्थापित आवरण हैं जो जीव के नैसर्गिक ज्ञान को अवरुद्ध करते हैं और उसके अपरोक्ष ज्ञान के बाधक हैं।'

**जीव शाश्वत है** - गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा - लोक में शाश्वत क्या है? भगवान् महावीर ने संक्षेप शैली में कहा - जीव और अजीव! ये दोनों पदार्थ शाश्वत हैं, क्योंकि उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य इस त्रिपदी के आधार पर जीवों की शाश्वतता सिद्ध है। पूर्व अवस्था का त्याग एवं अपर अवस्था की प्राप्ति क्रमशः व्यय और उत्पाद है। पहले पर्याय का नाश एवं नये पर्याय की उत्पत्ति- इस परिवर्तित स्थिति में भी चैतन्यमय असंख्यात प्रदेशी जीवद्रव्य की सत्ता यथावत् बनी रहती है। ठाणं में जीव को इसीलिए शाश्वत कहा है, क्योंकि जीव पहले भी था, वर्तमान में भी है और आगे भी रहेगा। वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, स्थिर और नित्य है। जीव तीनों कालों में जीव रूप में विद्यमान रहता है। जीव कभी अजीव नहीं होता, यही उसकी शाश्वतता है।<sup>६</sup>

**जीव अमूर्त है**- अमूर्त अर्थात् जिस पदार्थ में स्पर्श-वर्ण-रस-स्पर्शादि भौतिक गुणों का अभाव हो, उसे अमूर्त कहा जाता है। जीव में भी स्पर्शादि भौतिक गुण नहीं होते। इन्द्रिय और मन के द्वारा अग्राह्य अमूर्त जीव जब भौतिक गुण 'कर्म' (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, अन्तराय) से बंधा रहता है, तब जीव मूर्तवत् दिखाई देता है।<sup>७</sup> वास्तव में कर्माधीन जीव भी साक्षात् दिखाई नहीं देता, उसकी प्रवृत्ति से ही आभास होता है।

**जीव कर्ता है-** जीव में कर्तृत्व शक्ति विद्यमान है। जैन दर्शन जीव को सांख्य की भाँति कर्ता और अभोक्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि जीव की कर्तृत्वशक्ति दृश्य है। यद्यपि कर्तृत्व के बिना कोई भी द्रव्य द्रव्य नहीं हो सकता, फिर भी जीव को 'कर्ता' कहने के दो कारण मुख्य रूप से निमित्त बने हैं- सर्वप्रथम जीव की स्वतंत्र सत्ता मानकर दार्शनिकों ने उसे अकर्ता कहा है उनकी इस मान्यता का निषेध करने के लिए और दूसरी अपनी संसारिक अवस्था में जीव कर्ता ही है। इस विधान की पुष्टि पंचाध्यायी से होती है।

न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त की भाँति जैन दर्शन भी आत्मा को कर्ता मानता है। आत्मा को कर्ता कहने से तात्पर्य है कि वह परिणमनशील है।<sup>१८</sup> जिस समय हम जीव को परिणामी मान लेते हैं उसी समय वह कर्ता भी सिद्ध हो जाता है। जीव के साथ कुछ परिवर्तन देखें जाते हैं, जैसे- वह कभी गाता है, कभी रोता है, कभी बैठता है, कभी सोता है। यदि जीव यह सब नहीं करता है तो कौन करता है। हम जानते हैं कि जैन दर्शन नय शैली का प्रतिपादक है। नय शैली से उसने आत्मा को कर्ता बतलाते हुए कहा है कि व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा द्रव्य-कर्म, नो-कर्म एवं घट-पट आदि पदार्थों का कर्ता है और निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा भाव-कर्म का कर्ता है। प्रवचनसार में कहा गया है कि आत्मा अपने भाव कर्मों का कर्ता होने के कारण उपचार से द्रव्य कर्म का कर्ता कहलाता है।<sup>१९</sup> जिस प्रकार लोकरूढ़ि से कुम्भकार घड़े का कर्ता व भोक्ता माना जाता है उसी प्रकार रूढ़िवश आत्मा कर्मों का कर्ता एवं भोक्ता है।<sup>२०</sup>

**जीव स्वदेहपरिमाण है-** जैन दर्शन के अनुसार जीव अपने-अपने शरीर के अनुसार संकोच तथा विस्तार करता है। इसलिए स्वदेहपरिमाण कहा गया है। अन्य दार्शनिकों के अनुसार जीव शरीर के किसी एक भाग में ही होता है, लेकिन व्यवहार में ऐसा दिखाई नहीं देता। इसीलिए चींटी के शरीर का जीव छोटा और हाथी के शरीर का जीव विस्तार अवस्था में दृश्य है। निष्कर्षतः जीव शरीर प्रमाण है। विकास में तारतम्य होने के कारण भिन्न-भिन्न होते हुए भी चैतन्यमय असंख्य प्रदेशात्मक स्वरूप की दृष्टि से एक ही हैं।

**जीव भोक्ता है-** जीव ही कर्म करता है और उसका भोग भी करता है। यह सत्य है कि कर्ता ही कर्मफल का भोग करता है। जीव अपनी अच्छी या बुरी प्रवृत्ति के द्वारा कर्मण वर्गणा के पुद्गलों को निरन्तर आकर्षित करता है, उन्हीं आकर्षित कर्मों को एक समय बाद भोगता है। यह जीव की असाधारण योग्यता है - भोग और उपभोग<sup>२१</sup>

जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न है-आचार्य शंकर की मान्यता है कि आत्मा एक है। माया या भ्रम के कारण वह अनेक रूपों में दिखाई देती है। लेकिन प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा एक है तो फिर प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव अलग-अलग होता है। कोई रोता है तो कोई हँसता है। यदि आत्मा एक होती तो एक के रोने पर सभी को रोना चाहिए था। किन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे यह स्पष्ट होता है आत्मा एक नहीं बल्कि अनेक है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा, जैन दर्शन आदि आत्मा के अनेकत्व में विश्वास करते हैं। जैन मान्यतानुसार आत्मा अपरिमित तथा असीम है लेकिन प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है। पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर सिद्धों तक सभी की अलग-अलग आत्माएँ हैं। जैन दर्शन की यह प्रसिद्ध मान्यता है कि एक शरीर में अनेक आत्मा रह सकती हैं लेकिन एक आत्मा एक से अधिक शरीर में नहीं रह सकती है। यदि एक आत्मा की सत्ता को मानते हैं तो सुख, दुःख, बन्धन, मोक्ष आदि की व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी। एक ही आत्मा एक ही समय में सुखी और दुःखी या बद्ध और मुक्त दोनों नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है।

जीव और ज्ञान में भिन्नाभिन्न सम्बन्ध है- जीव और ज्ञान भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न है। ज्ञान जीव का गुण है। जीव और ज्ञान कथंचित् भिन्न इस दृष्टि से हैं कि जीव गुणी है और ज्ञान गुण। जीव लक्ष्य है और ज्ञान लक्षण। जीव और ज्ञान का यह विभेद व्यवहारनय की अपेक्षा से किया गया है। दोनों अभिन्न इस दृष्टि से हैं कि ज्ञान जीव का स्वभाव है। निश्चयनय की अपेक्षा से जो ज्ञान है वही जीव है और जो जीव है वही ज्ञान है। जीव और ज्ञान को सर्वथा न तो अभिन्न माना जा सकता है और न ही सर्वथा भिन्न माना जा सकता है। यदि हम उसे सर्वथा अभिन्न मानते हैं तो फिर हमें ज्ञान और सुख-दुःख आदि गुणों में अन्तर कर पाना मुश्किल हो जायेगा और यदि सर्वथा भिन्न मानते हैं तो ज्ञान आत्मा का निश्चयात्मक स्वभाव होने से वहाँ जीव का अभाव हो जायेगा और ज्ञान आदि के निराश्रय होने से ज्ञान की सत्ता नहीं रहेगी। इस प्रकार जीव व ज्ञान कथंचित् अभिन्न तथा कथंचित् भिन्न है।

### जीव के भेद

मुख्य रूप से जीव के दो भेद हैं - १. संसारी, २. सिद्ध<sup>१३</sup>

१. संसारी - जो जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं, वे सभी जीव संसारी कहलाते हैं। 'संस्तरणं संसारः' के आधार पर जो चतुर्गतिक नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव, इन चारों गतियों में संस्तरण करते हैं, संसारी जीव हैं।<sup>१३</sup> ये जीव कर्मबद्ध होने से पुनः-पुनः जन्म-मरण कर अनेक योनियों में अनेक बार पैदा होते रहते हैं। जब तक जीव कर्ममुक्त न हो जाये तब तक यह क्रम चलता रहता है।

२. सिद्ध - जीव की विशुद्धतम अवस्था का नाम है- सिद्ध। जन्म-मरण की परम्परा से निवृत्त ये जीव लोक के एक देश में अवस्थित रहते हैं। ऐसे जीव अरूपी, सघन एवं ज्ञान-दर्शन में सतत् उपयुक्त होते हुए वैसे शाश्वत सुखों में तल्लीन रहते हैं, जो संसार में रहने वाला किसी भी जीव को प्राप्त नहीं होते। ज्ञान-दर्शन में सतत् उपयुक्त, संसार समुद्र से निस्तीर्ण और सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त सिद्ध जीव ही होते हैं।<sup>१५</sup>

**संसारी जीवों के भेद** - संसारी जीवों के मुख्यरूपेण दो भेद किये गये हैं - १. त्रस, २. स्थावर।<sup>१६</sup> सभी संसारी प्राणियों का समावेश संक्षिप्त में इन दोनों प्रकारों में समाहित है।

१. त्रस जीव - वे जीव जो अपने हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते हैं, त्रस जीव कहलाते हैं। इन्द्रियां पांच हैं। उनमें से दो इन्द्रिय जीवों से लेकर पांच इन्द्रिय जीवों का समावेश त्रस कायिक जीवों में किया गया है। इस श्रेणी में चारों गतियों के जीव समाहित हैं।

२. स्थावर - त्रस जीवों के विपरीत ये जीव चैतन्यगुण से युक्त होने पर भी अविकसित चेतना शक्ति के कारण हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के लिए गमनागमन नहीं कर सकते। जिसमें स्वभावतः प्रवृत्ति होती रहती है, वे जीव स्थावर कहलाते हैं। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजसकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक आदि जीव इसके अन्तर्गत आते हैं। अपने-अपने शरीर की पहचान से ही आगमों में इनका उल्लेख उपलब्ध होता है। स्थावर जीवों के दो प्रकार हैं - १. सूक्ष्म, २. बादर। सूक्ष्म स्थावर जीवों का भण्डार पूरे लोक में खचाखच भरा है, लेकिन आँखों से दृश्य नहीं है। बादर जीवों का समूह आँखों से देखा जाता है। ये जीव लोक के एकांश में विद्यमान हैं।

उपयोग एवं उदयजन्य अवस्था जैन दर्शन में जीव के स्वरूप के रूप में प्रख्यात है। कषायजन्य अवस्था में जीव औदयिक भाव में कार्यकारी होता है। क्षय, उपशम और क्षयोपशम जन्य जीव की अवस्था क्रमशः उज्ज्वलतम, उज्ज्वलतर एवं उज्ज्वल होती है। सांसारिक अवस्था में जीव और शरीर का सम्बन्ध क्षीरनीरवत्, अग्निलोहपिण्डवत् तादात्म्य होता है। जीव के दस परिणामों में वर्ण-गन्धादि पौदगलिक गुणों को भी गिनाया जाता है जब जीव कर्ममुक्त बन विशुद्ध बन जाता है, तब अमूर्त कहलाता है, उसका पुनः अवतरण इस संसार में नहीं होता।

जैन-दर्शन यद्यपि जीव या आत्मतत्त्व की अवधारणाओं को अपने ढंग से प्रस्तुत करता है फिर भी कुछ आलोचक इस तरह की आपत्ति उठाते हैं कि इनका अध्यात्मवादी दृष्टिकोण सीमित और दोषपूर्ण है, क्योंकि ये पुद्गल तथा अनात्मवादी

तत्त्वों में भी विश्वास करते हैं। लेकिन इस सन्दर्भ में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय दर्शन के इतिहास में आत्मतत्त्व और जड़तत्त्व में इस तरह का विरोध वैसा नहीं है जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट्स आदि के विचारों में देखने को मिलता है। तैत्तिरीयोपनिषद् को देखने से इस बात को और अच्छी तरह से समझा जा सकता है, क्योंकि वहाँ विभिन्न वार्तालापों, जिसके अन्तर्गत आनन्दमय कोष, विज्ञानमय कोष, मनोमय कोष, प्राणमय कोष और अन्नमय कोष की चर्चा की गई है, के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि जड़ और आनन्द (चेतन) ये सब एक ही सत्ता के विभिन्न आयाम हैं। जैन दर्शन में भी इस बात की पुष्टि होती है, तभी तो जैन दार्शनिक जीव में चेतना और विस्तार दोनों की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

**सन्दर्भ :**

१. भगवई, विवेचक मुनि नथमल, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, २०.२.१७.
२. 'उपयोगो लक्षणम्', तत्त्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, २.८
३. उत्तरज्ज्ञयणाणि, विवेचक सम्पा० आचार्य महाप्रज्ञ, २८.११.४४१.
४. वही, २८.११.४५१.
५. शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन : एक अनुशीलन, पृ० ४१
६. कालओ ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भवति ण कयाइ भविस्सई त्ति... भुविं भवति य भविस्सति य धुवे णिइए साससे अक्खए अक्खए अवट्ठिते णिच्चे। ठाणं, विवेचक मुनि नथमल, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं, ५.३.१७०
७. द्रव्यसंग्रह, आचार्य नेमिचन्द्र, गाथा ५.
८. यः पणिमति स कर्ता, समयसार, आ० टीका, गाथा ८६
९. प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका टीका, २९
१०. समयसार, आत्मख्याति टीका, ८४
११. भगवई, १.३.११८.७२
१२. संसारिणो मुक्ताश्च। तत्त्वार्थसूत्र, २/१०
१३. आवश्यकनिर्युक्ति, हरिभद्रवृत्ति, ७८६.
१४. उत्तरज्ज्ञयणाणि, विवेचक आचार्य महाप्रज्ञ, ३६.६६-६७.६०७.
१५. संसारिणस्त्रसस्थावराः। तत्त्वार्थसूत्र, २/१२





## उदारवादी जैन धर्म-दर्शन : एक विवेचन

डॉ० द्विजेन्द्र कुमार झा\*

विश्व-प्रचलित धर्मों के इतिहास में विवेचित इनके रूपों, रूप-विधानों तथा वर्णित विषयों से यह पता चल पाता है कि तत्सम्बन्धी आधुनिक अध्ययनों में 'धर्म-दर्शन' (फिलॉसफी ऑफ रिलिजन) सामान्य रूप से धार्मिक अनुभूति के स्वरूप, कार्य, मूल्य एवं सत्य का दार्शनिक प्रस्तुतीकरण है। डी० एम० एडवर्ड<sup>१</sup> के अनुसार यह धार्मिक अनुभूति के क्रम में उत्पन्न चुनौतियों के दार्शनिक प्रत्युत्तर का उपस्थापन है। मोटे तौर पर ब्राइटमैन ने इसे धर्म की बौद्धिक व्याख्या कहा है जिसका सम्बन्ध धार्मिक विश्वास तथा धार्मिक प्रवृत्ति एवं व्यवहारों के मूल्यों के साथ-साथ अन्य अनुभूतियों की व्याख्या से है और राइट ने इसे और व्यापक बनाते हुए धर्म को सत्यता, विश्वासों एवं व्यवहारों में निहित चरम अर्थ की व्याख्या से जोड़ा है। तकनीकी दृष्टि से यह धर्म एवं सत्ता के बीच के सम्बन्ध की व्याख्या करता है। इस प्रकार धर्म-दर्शन धार्मिक मान्यताओं की सत्यता और प्रामाणिकता के परीक्षण की विवेचना है जिसका उद्देश्य धार्मिक और मौलिक विश्वासों के बीच एकत्व स्थापित करते हुए मानव जीवन को आचार एवं दिशा प्रदान करना है। चूँकि जैन धर्म-दर्शन इन मान्यताओं की संपुष्टि करने में सर्वथा समर्थ है, इसलिए इसे जीवंत धर्म के रूप में उत्कृष्ट धर्म-दर्शन की प्रतिष्ठा सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से प्राप्त है। हरबर्ट डब्ल्यू० स्चैडर<sup>२</sup> ने 'लिबरल रिलिजन' अर्थात् उदारवादी धर्म की विवेचना की है। इस क्रम में उन्होंने कुछ बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिससे उदारवादी धर्म के कतिपय महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं का पता चलता है। उनका मानना है कि जिनमें अनासक्त शुभ-चिन्ता (डिसइन्टरेस्टेड वेलविशेस), व्यावहारिक धर्म जिनका पर्याप्त सैद्धांतिक आधार हो (प्राैक्टिकल रिलिजन विद एडिक्वेट थ्यारैटिकल बेसिस), नैतिक परिवर्तन लाने की साधकता, क्रियाशीलता, धर्मनिष्ठा, गणतंत्रवाद को उन्नत बनाने की प्रगुणता तथा लक्ष्यों की खोज की क्षमता मौजूद हो वे उदारवादी धर्म की कोटि में रखे जा सकते हैं। यह अत्युक्ति नहीं होगी यदि इस अर्थ में जैन-धर्म को उदारवादी धर्म तथा जैन धर्म-दर्शन को उदारवादी धर्म-दर्शन कहा जाए। जैन धर्म-दर्शन का प्रगामी विवेचन यह सिद्ध करने में समर्थ है कि वह अपने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विचार में उदारवादी धर्म कहलाने का प्रकर्ष रखता है।

\* ग्रा०+पो०-भटहाँ, भाया-सुगौली, जिला-पूर्वी चम्पारण-८४५४५६ (बिहार)

जैन धर्म विश्व के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। इसकी अपनी स्वतंत्र और मौलिक दार्शनिक परम्परा है। इसे एक विशेष या संकीर्ण मत अथवा सम्प्रदाय के रूप में न तो देखा गया है और न देखा जा सकता है। इसमें रूढ़िवादिता का भी सर्वथा अभाव है और इसकी मान्यता पुरुषार्थमूलक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित है। वैचारिक ताजगी और निर्मलता के गौरव से पूर्ण यह एक प्रगतिशील धर्म के रूप में प्रतिष्ठित है। इसकी चिंतन-पद्धति जहाँ एक ओर क्रान्तिपूर्ण, सहिष्णु तथा वैज्ञानिक है, वहीं दूसरी ओर इसकी विचारधारा संतप्त मानवता को शांतिपथ पर लाने में समर्थ है। इसका एकमात्र प्रमाण इसके द्वारा अपनाए गए सिद्धांत एवं व्यवहार के बीच सामंजस्य की स्थापना है। 'रत्नत्रय' का विश्लेषण, व्यापकता, अनुज्ञापकता एवं सिद्धि इसके मूल आधार हैं। दर्शन के रूप में इसकी व्यापकता तथा आचरण के रूप में परिशुद्धता जगत् प्रसिद्ध है। धर्म अथवा धारण करने की कला की उत्कृष्टता इसका आदर्श है। साथ ही विचार एवं आचरण दोनों में इसकी उदारता अभीष्ट एवं स्वयंसिद्ध है। इसके दार्शनिक विचार जितने तथ्यात्मक हैं, धर्माचरण भी उतने ही कठोर, किन्तु यथार्थ हैं। इसकी दार्शनिक, आचारमीमांसीय एवं धार्मिक दृष्टि उदारवादी है और किसी भी धर्म-दर्शन के सिद्धांत एवं व्यवहार में यदि एकरूपता हो, सामंजस्य हो और धर्म-दर्शन धार्मिक कार्यों को प्रगतिशील विचारों के अनुरूप चलने का संदेश देता हो, अनन्य 'कनसर्न फॉर अदर्स' के भाव को बढ़ावा देता हो तो वैसे धर्म-दर्शन के नींव को ठोस उदारवादी दृष्टिकोण पर आधारित मान लेने में कहीं भी कोई बाधा न तो विचार के क्षेत्र में और न ही व्यवहार के क्षेत्र में देखी जा सकती है।

प्रस्तुत शोध आलेख का उद्देश्य जैनों के दार्शनिक विचारों, यथा- ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, आचारमीमांसा एवं धर्म-दर्शन के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों की विवेचना कर यह स्थापित करना है कि जैन धर्म-दर्शन उदारवादी दृष्टि को सर्वत्र बढ़ावा देता है।

### उदारवादी ज्ञानमीमांसा

जैनों की ज्ञानमीमांसा जहाँ अत्यन्त विस्तृत है वहीं इसमें ज्ञान की प्रक्रिया के विभिन्न रूपों का सूक्ष्म विश्लेषण भी देखने को मिलता है। अन्य भारतीय दर्शनों की ज्ञानमीमांसा की तरह ही इसकी ज्ञानमीमांसा भी अपने क्रमिक विकास और अंतिम निर्धारण को रूपायित करती है। इस क्रम में जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि आत्मा का सारतत्त्व चेतना है<sup>३</sup> जिसका मूल स्वरूप सर्वज्ञता है, जिसे दूरस्थ एवं समीपस्थ तथा भूत एवं भविष्य प्रत्येक वस्तुओं का ज्ञान होता है, किन्तु कर्म के प्रभाव से, कर्म के द्वारा आक्रांत होने से इसका ज्ञान आकुंचित एवं सीमित हो जाता है। अतः

यह मन और इन्द्रियों की सहायता से सीमित ज्ञान को ही प्राप्त कर पाता है। अतः आत्मा से पूर्णतः भिन्न मन और इन्द्रियों की सत्ता नहीं देखी जाती है।<sup>५</sup> जैन दार्शनिक इस विचार के समर्थन हेतु भौतिक एवं मानसिक इन्द्रियों और मन के बीच भेद करते हैं तथा आत्मा का मानसिक इन्द्रियों के साथ तादात्म्य मान लेते हैं। इसे वे तादात्म्य और विभेद (आइडेन्टिटी एन्ड डिफरेन्स) अथवा विभेद में तादात्म्य (आइडेन्टिटी इन डिफरेन्स) के नाम से पुकारते हैं। चूँकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अतः मन और इन्द्रियों का महत्त्व ज्ञान के क्रम में महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता है। लेकिन सांसारिक अवस्था में हम इनके माध्यम से वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं अतः इनका यह माध्यम अनिवार्य है। इस प्रकार सभी ज्ञान आत्मा से तादात्म्य रखते हैं, फिर भी दोनों विभेद योग्य हुआ करते हैं। इसका अर्थ यह है कि दोनों के बीच का सम्बन्ध तादात्म्य और विभेद दोनों का है। हेमचन्द्र ने इस स्थिति का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है। ज्ञानेन्द्रियाँ कर्म से उत्पन्न होती हैं तथा आत्मा की संसूचक हैं। ये प्रत्यक्ष की माध्यम अथवा मात्र अवसर हुआ करती हैं, जबकि अपने आप में वे कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाती हैं। केवल आत्मा ही प्रत्यक्षकर्ता हो सकता है। भौतिक इन्द्रियाँ, भौतिक शरीर के साथ विभेद में तादात्म्य के सम्बन्ध से देखी जाती हैं। जबकि मानसिक इन्द्रियों का भी वही सम्बन्ध आत्मा के साथ देखा जाता है। ज्ञान के पहले वस्तु आत्मा के परदे में रहती है जो कर्म का फल है। मन इन्द्रिय है, अतः सभी व्यावहारिक ज्ञान मन और ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होते हैं। वस्तुतः ज्ञान आत्मा का व्यापार है जो वह मन और इन्द्रियों के माध्यम से करता है। जिस प्रकार बोलने की शक्ति, उसके प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण एवं परिणमन तथा बोलने का प्रयत्न आदि आत्मा के बिना नहीं हो सकता उसी प्रकार आत्मा भी इन सब के बिना कुछ नहीं कर सकती। वाचिक, शारीरिक व मानसिक प्रवृत्ति आदि सभी सशरीरी आत्मा के गुण हैं। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार बाह्य पदार्थों के अवलोकन में इन्द्रियों की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार पदार्थ के विषय में विशेष विमर्श या वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञान के लिए मन की अपेक्षा होती है। इस प्रकार मन और आत्मा व मन और इन्द्रियों के बीच ही नहीं, बल्कि एक-दूसरे इन्द्रिय के बीच विभेद और तादात्म्य के सम्बन्ध देखे जाते हैं, क्योंकि ये सभी एक ही वस्तु को उद्घाटित करती हैं।<sup>६</sup>

जहाँ तक यथार्थ ज्ञान के वर्गीकरण का प्रश्न है जैन दार्शनिक एक मत नहीं हैं। उमास्वाति के अनुसार इसके पाँच प्रकार हैं- मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय तथा केवलज्ञान। प्रथम का सम्बन्ध सामान्य प्रत्यक्षानुभूति एवं अनुमान से है। प्रथम एवं द्वितीय भ्रमशील है, जबकि शेष अन्य तीन अभ्रमशील या विश्वसनीय है। उमास्वाति के बाद के वर्गीकरण में साक्षात् एवं असाक्षात् ज्ञान के बीच भेद किया गया है।<sup>६</sup>

साक्षात् ज्ञान पूर्व वर्णित पंचज्ञान में से अंतिम तीन को कहा गया है। वस्तुतः ये तीन ही साक्षात् ज्ञान के प्रदायक हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रिय वस्तुतः साक्षात् नहीं होते, बल्कि मन और इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिए इन्हें व्यावहारिक प्रत्यक्ष की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक जैन ग्रन्थों में इनका विवेचन ज्ञानमीमांसा के क्रम में देखा जाता है, जहाँ जैन दार्शनिक अनुमान की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं।

परामर्श सम्बन्धी मत जैन ज्ञानमीमांसा का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस क्रम में वे, सप्तभंगी नय आदि का विवेचन करते हैं। वे मानते हैं कि एक परामर्श से वस्तु के एक ही धर्म का बोध होता है। सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं। सप्तभंगी, जिसे सात प्रकार के परामर्श से विभूषित किया जाता है, की विवेचना वस्तुवादी तथा व्यवहारवादी पाश्चात्य दर्शनों के समीप लाकर इन्हें पाश्चात्य विचारों के पूर्वगामी दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करता है। जैन ज्ञानमीमांसा सापेक्षवादी है जिसे लोगों ने वस्तुवादी सापेक्षवाद कहा है। इस दृष्टि से जैन मत पाश्चात्य दार्शनिक प्रोटागोरस, बर्कले, व्हाइटहेड तथा गूडिन के विचारों का पूर्वगामी दिखता है। स्याद्वादी होने के कारण जैन ज्ञानमीमांसा पर संशयवाद का भी आरोप लगता रहा है। यथार्थ में जैन-दर्शन संशयवादी नहीं है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से किसी वाक्य में उसकी असत्यता या संदिग्धता का बोध नहीं कराया जाता, बल्कि उसकी सापेक्षता का संकेत किया जाता है। अपेक्षादृष्टि ही स्यात् का मूल है। परिस्थिति तथा विचार-प्रसंग के अनुसार परामर्श अवश्य ही सत्य होता है-इसे दार्शनिक स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। अतः स्याद्वाद को संशयवाद समझना अनुचित है।

ज्ञानमीमांसा के विभिन्न पक्षों के संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के स्वरूप एवं प्रकार को लेकर जैन दर्शन का दृष्टिकोण उदारवादी है। जैन विचारक अन्य सभी विचारों को भी उनकी अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य मानते हैं। यदि विश्व दर्शन में विचार किए गए विभिन्न दृष्टियों को अथवा विभिन्न दृष्टियों से विचार किए गए दार्शनिक विधाओं को समझने का प्रयास किया जाए तो लगता है कि दृष्टि-भेद एकान्तता ही मतभेद का कारण है। दृष्टि विशेष के क्रम में सभी अपने-अपने विचारों को रखते हैं और उनकी अपनी दृष्टि में उनका मत युक्तिसंगत ही होता है। किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में हमारा जो निर्णय होता है, वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता विशेष परिस्थिति एवं विशेष दृष्टि से ही मानी जा सकती है। लोगों के बीच मतभेद रहने का कारण यह है कि वह अपने विचारों को ही नितान्त सत्य मानने लगते हैं तथा दूसरों के विचारों की उपेक्षा करते हैं। विभिन्न दर्शनों में जो मतभेद पाये जाते हैं उनका कारण भी यही है कि प्रत्येक दर्शन अपने दृष्टिकोण को ठीक समझता है और दूसरे के दृष्टिकोण को मिथ्या बताकर उपेक्षा करता है। यदि प्रत्येक दार्शनिक

यह सोचता कि उसका मत भी किसी दृष्टि-भेद पर निर्भर है तो दार्शनिक विचार में मतभेद होने की संभावना नहीं रहती। स्यादवाद इसी दार्शनिक मतभेद को दूर करता है। यह अपने अंतर्गत सभी संभावित सत्यों को **संग्रहीत** करता है।

जैन चिन्तक ज्ञान की संभावना की सत्यता में विश्वास करते हैं तथा ज्ञान की भाँति निष्पक्ष और स्वच्छ हृदय से सत्यानुसंधान पर जोर देते हुए कहते हैं कि इस आधार पर किसी भी ज्ञान की सिद्धि हो सकती है। यहाँ अंधविश्वास के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक हरिभद्र ने इसे परिपुष्ट करते हुए ही कहा है-

**पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।**

**युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥<sup>७</sup>**

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें भिन्न-भिन्न विचारों में प्रकट किए गए सत्य वचन ही ग्राह्य हैं। हरिभद्र की यह उक्ति जैन ज्ञानमीमांसा को व्यापक, तर्कसम्मत, सुनम्य और विभिन्न दर्शनग्राही बना देती है।

### उदारवादी तत्त्वमीमांसा

जैन तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा के बीच गहन सम्बन्ध है। ज्ञान-प्रक्रिया के विश्लेषण को अस्तित्व की अभिवृत्ति से पूर्णतः अलग नहीं किया जा सकता। जैसा कि समकालीन पाश्चात्य विचारक आर० एफ० ओनियल<sup>८</sup> का विचार है। जैन दार्शनिक इस सम्बन्ध का निर्वाह शताब्दियों पहले से ही करते आ रहे हैं और ऐसा कर उन्होंने अपनी ज्ञानमीमांसा की तरह ही अपनी तत्त्वमीमांसा को भी उदारवादी बना रखा है। जैन तत्त्वमीमांसा मुख्य रूप से द्रव्य की तत्त्वमीमांसा है, जहाँ वे मानते हैं कि सभी वस्तुएँ द्रव्यस्वरूप हैं। यहाँ तक की गति, स्थिति, दिक् तथा काल भी द्रव्य ही हैं।

धर्म किसी धर्मी का होता है। जिसका धर्म होता है वह धर्मी है और धर्मी में जो लक्षण पाया जाता है वह धर्म है। धर्मी को द्रव्य के नाम से भी जाना जाता है। जैन विचारकों ने प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के धर्म को स्वीकार किया है। कुछ धर्म ऐसे होते हैं जो उस वस्तु के रूप, स्थिति आदि के परिचायक होते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो अन्य वस्तुओं के साथ उसके पार्थक्य को सूचित करते हैं। प्रथम प्रकार के धर्म भावात्मक हैं जिसे जैन दार्शनिक स्व-पर्याय कहते हैं और दूसरे प्रकार के धर्म अभावात्मक हैं जिन्हें पर-पर्याय कहते हैं। काल के अनुसार वस्तु के धर्मों में परिवर्तन होता रहता है और उसमें नए-नए धर्मों की उत्पत्ति होती रहती है। लेकिन वस्तु के अनन्त धर्मों का पूर्ण ज्ञान मात्र केवली या सर्वज्ञ पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं। जो द्रव्य में सदा वर्तमान रहते हैं वे स्वरूप धर्म कहलाते हैं तथा जो आते-जाते रहते हैं वे आगंतुक धर्म कहलाते हैं।

जैन तत्त्वमीमांसा संसार को एक दृष्टि से नित्य तथा दूसरी दृष्टि से अनित्य स्वीकारती है। एक दृष्टि से संसार की नित्यता ठीक है, किन्तु दूसरी दृष्टि से इसका परिवर्तन भी ठीक है। स्याद्वाद की मान्यता के कारण यहाँ विरोध की संभावना नहीं रह जाती है। द्रव्य सत् है तथा उत्पत्ति, स्थिति और व्यय इसके तीन लक्षण हैं। जैन विचारकों को बौद्ध का क्षणिकवाद स्वीकार्य नहीं है। वे बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद और अद्वैतवेदांत के नित्यवाद को एकांगी व एकांतवादी समझते हैं। क्योंकि अद्वैतवादी परिवर्तन को माया समझते हैं और केवल ब्रह्म को ही सत्य एवं नित्य मानते हैं।<sup>१</sup> जैन दार्शनिक समस्त द्रव्यों को दो भागों में विभक्त करते हैं- अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय। अस्तिकाय के भी दो प्रकार हैं- जीव और अजीव। जीव आत्मा का ही दूसरा नाम है। जीव भी दो प्रकार के होते हैं-मुक्त और बद्ध। चेतन द्रव्य को ही जैन दार्शनिक आत्मा या जीव कहते हैं। मात्रा-भेद के अनुसार जीवों में एक तारतम्यता है जिसमें सिद्ध आत्माओं का स्थान सबसे ऊँचा है। सिद्ध वे हैं जो कर्मों पर विजय पा लेते हैं और पूर्णज्ञानी हो जाते हैं। सबसे निम्न स्थान में ऐसे एकेन्द्रिय जीव हैं जो क्षिति, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति में वास करते हैं। जीव ही ज्ञान प्राप्त करता है। वही कर्म भी करता है। सुख-दुःख भी वही भोगता है। वह नित्य है, किन्तु उसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। वह सर्वव्यापी नहीं, बल्कि उसकी व्यापकता शरीर तक ही सीमित है। यहाँ पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्टे के विचारों से जैन दार्शनिकों के विचार में अंतर को देखा जा सकता है। जड़ द्रव्य और आत्मा के विस्तार में निहित भेद को स्पष्ट करते हुए जैन दार्शनिक बतलाते हैं कि जिस स्थान में जब तक कोई जड़द्रव्य है, तब तक वहाँ दूसरा कोई जड़-द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता। किन्तु जिस स्थान में एक आत्मा है, वहाँ दूसरी आत्मा का सन्निवेश हो सकता है। आत्मा आलोक की तरह किसी स्थान में चैतन्य रूप में व्याप्त रहती है। आत्मा के गुणों को देखकर ही हम आत्मा की प्रत्याक्षानुभूति करते हैं। सुख, दुःख, स्मृति, संकल्प, संदेह, ज्ञान आदि धर्मों के अनुभव होने से ही आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

जीवों का निवास-स्थान यह जगत् है जो जड़ द्रव्यों से बना हुआ है। जैन दर्शन में जड़-तत्त्व को पुद्गल कहा गया है। पुद्गल का अर्थ है- जिसका संयोग और विभाग हो सके। पुद्गल के सबसे छोटे भाग को जिसका और विभाग नहीं हो सकता है- 'अणु' कहते हैं। दो या दो से अधिक अणुओं के संयोग से 'संघात' या 'स्कंध' बनता है। शरीर और अन्य जड़द्रव्य अणुओं के संयोग से ही बने संघात हैं। मन, वचन तथा प्राण जड़-तत्त्वों से ही निर्मित हैं। जैन स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण के रूप में पुद्गल के चार गुणों को स्वीकार करते हैं। गुण अणुओं तथा संघातों में भी पाए जाते हैं।

आकाश के कारण ही विस्तार संभव होता है। आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। द्रव्यों का कायिक विस्तार स्थान के कारण ही हो सकता है। आकाश के बिना अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तार सर्वथा असंभव है। द्रव्य आकाश को व्याप्त करता है और आकाश द्रव्य के द्वारा व्याप्त होता है।<sup>१०</sup> जैन दार्शनिकों ने आकाश के भेद के रूप में लोकाकाश और अलोकाकाश को स्वीकार किया है। जो जीवों तथा अन्य द्रव्यों का आवास-स्थान है वह लोकाकाश है तथा जो लोकाकाश के परे है वह अलोकाकाश है।

काल की महत्ता को स्पष्ट करते हुए उमास्वाति ने कहा है कि द्रव्यों की वर्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनत्व या प्राचीनत्व काल के कारण ही संभव होता है।<sup>११</sup> काल न हो तो वर्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनता, प्राचीनता आदि कुछ भी संभव नहीं है। इनका अस्तित्व ही यह सिद्ध करता है कि काल है। यह अस्तिकाय द्रव्य नहीं है। यह एक अखंड द्रव्य है। पारमार्थिक काल तथा व्यावहारिक काल के रूप में काल के दो भेद हैं। वर्तना पारमार्थिक काल के कारण होती है। अन्यान्य परिवर्तन व्यावहारिक काल के कारण होते हैं। क्षण, मुहूर्त, प्रहर आदि में व्यावहारिक काल या समय ही विभाजित होता है। समय का प्रारम्भ और अन्त होता है, किन्तु पारमार्थिक काल नित्य तथा निराकार है। कुछ जैन दार्शनिक काल को भिन्न या स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते हैं, बल्कि अन्य द्रव्यों का ही एक पर्याय मानते हैं।<sup>१२</sup>

जैन दर्शन के अनुसार धर्म और अधर्म क्रमशः गति और स्थिति के कारण हैं। धर्म और अधर्म का अस्तित्व अनुमान से सिद्ध होता है। मछली ही अपनी गति को प्रारंभ करती है किन्तु जल ही वह सहायक द्रव्य है जिसके कारण गति संभव हो पाती है। जैन मान्यतानुसार यही धर्म है।<sup>१३</sup> धर्म और अधर्म गति एवं स्थिति के निराकार तथा उदासीन कारण हैं। ये स्वयं क्रियाशील नहीं हैं। आकाश, काल, धर्म और अधर्म को एक विशेष अर्थ में कारण स्वीकार किया गया है। ये साधनों के ही अन्दर आ सकते हैं किन्तु साधारण साधनों से कुछ भिन्न है। साधारण साधनों की तरह ये प्रत्यक्ष ढंग से सहायक नहीं होते हैं और न ये उनकी तरह क्रियाशील ही रहते हैं।

### उदारवादी आचारमीमांसा

जैन दर्शन का प्रधान उद्देश्य है बंधन से मुक्ति। जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव को ही बंधन के दुःख भोगने पड़ते हैं। जीव चेतन द्रव्य है। यह स्वभावतः पूर्ण है, अनन्त है। शरीर धारण करने के कारण ही इसके सामने अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। शरीर पुद्गल से बनता है। विशेष प्रकार के शरीर के लिए विशेष प्रकार के पुद्गल की आवश्यकता होती है और उसका विशेष प्रकार से रूपांतरण होता है। जीव

की अंतर्निहित प्रवृत्तियों के द्वारा ही मानों शरीर का निर्माण होता है अर्थात् जीव अपने कर्मों या संस्कारों के वशीभूत हो कर ही शरीर धारण करता है। वासनाएँ पुद्गल को जीव की ओर आकृष्ट करती हैं। जीव शरीर का निमित्त कारण है और पुद्गल उपादान कारण। शरीर से मन, इन्द्रिय तथा प्राण का भी बोध होता है जिसके कारण जीव के स्वाभाविक गुण अभिभूत होते हैं। इस प्रकार शारीरिक विशेषताएँ कर्मजनित होती हैं। कर्म-पुद्गल एवं उसके आश्रय से दो प्रकार के बंधन उत्पन्न होते हैं- जिन्हें भावबन्ध एवं द्रव्यबन्ध कहते हैं। जब पुद्गल का जीव के साथ सम्बन्ध होता है तब जीव बन्धन में आ जाता है। अतः पुद्गल विनाश ही मोक्ष है।

जीव में पुद्गल का आश्रव जीव की अंतर्निहित कषायों के कारण होता है और कषायों का कारण अज्ञान है। ज्ञान ही अज्ञान को दूर करता है। अज्ञान को दूर करने हेतु त्रिरत्न दर्शन की प्रस्तुति की गयी है। तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वाति ने कहा है- **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।**<sup>१८</sup> अर्थात् यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है तथा कर्मों के नाश और तत्त्वों के सविशेष ज्ञान से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है तो सम्यग्ज्ञान से प्राप्त सम्यक्-चारित्र का अर्थ अहित कार्यों का वर्जन और हित कार्यों का आचरण है। यहाँ उमास्वाति केवलज्ञान के लिए कर्मों के पूर्ण विनाश की प्रतिष्ठा करते हैं। इस क्रम में जैन चिंतक नये कर्मों को रोकने के लिए तथा पुराने कर्मों को नष्ट करने के लिए पंचमहाव्रत, यथा- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की चर्चा करते हैं। इस संदर्भ में यह विचारणीय है कि जैन के साथ-साथ अन्य धर्मों में भी पंचमहाव्रत को स्वीकृति मिली है या नहीं? किसी न किसी रूप में स्वीकृति तो मिली है, किन्तु जैन दार्शनिक इसे संकल्प के साथ मन, वचन एवं कर्म तीनों से इनकी प्रतिस्थापना जीवन में करने पर जितना बल देते हैं स्यात् अन्य धर्मों में उतना बल नहीं दिया गया है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्र की पूर्णता होने पर जीव मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। चूँकि मोक्ष में पुद्गल जनित बाधाओं से मुक्त होकर जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पुनः पहचान लेता है जिससे अनंत-चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, और अनंत सुख (आनन्द) की प्राप्ति हो जाती है, इसलिए मोक्ष प्राप्त जीव वस्तुतः **प्राप्तस्य प्राप्ति** की अवस्था को प्राप्त करता है, किसी नई अवस्था को प्राप्त नहीं करता है। हाँ! इतना अवश्य है कि जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति मिल जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन आचारमीमांसा में दो बातें बड़े ही महत्त्व की हैं- पहला 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग और दूसरे 'अनंत-चतुष्टय'। इन दोनों से ऐसा लगता है कि जैन आचारमीमांसा जहाँ एक ओर सर्वजन सुलभ है, वहीं इसमें विवेचित अभिबोध मोक्ष को सामान्य मानवीय धरातल पर लाकर प्रत्येक



व्यक्ति को यह चयनित करने की स्वतंत्रता देता है कि वह अपने में निहित जीव के स्वभावतः अनन्त स्वरूप को अपने प्रयासों द्वारा अपने जीवन काल में ही प्राप्त कर ले अथवा नहीं। यह निश्चित रूप से उसी तरह की अवधारणा है जहाँ धरती पर स्वर्ग को उतार देने की परिकल्पना निहित है। सत्प्रयासों को सर्वजन सुलभ रूप में उतारने की आचारमीमांसा, मेरी समझ में जैन धर्म-दर्शन से अन्यत्र शायद ही सुलभ हो।

### उदारवादी धर्म-मीमांसा

जैन परम्परा में 'धर्म' व 'अधर्म' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है। ये दोनों शब्द क्रमशः 'गति' और 'स्थिति' के बोधक हैं। धर्म-मीमांसा का धर्म शब्द 'रिलीजन' शब्द के अर्थ अर्थात् 'रिलीजेयर' या बांधने या धारण करने के अर्थ में सम्पन्न है। जैन धर्म अनीश्वरवादी धर्म है। यहाँ ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व को मान्यता प्राप्त नहीं है। ईश्वर के अस्तित्व का विरोध करते हुए यहाँ यह माना गया है कि ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से और न ही अनुमान से हो सकती है। ईश्वर के लिए जो गुण कल्पित हैं वे युक्तिपूर्ण नहीं हैं। जैन धर्म-दर्शन ईश्वर की नहीं, प्रत्युत् तीर्थकरों को ही ईश्वर के रूप में अभिहित करता है। इसके अनुसार ये ही मार्ग-प्रदर्शन तथा अंतःप्रेरणा प्रदान करते हैं तथा धर्मपरायण जैनों के लिए उपासना योग्य हैं। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि ईश्वर को नहीं, बल्कि ईश्वरीय भाव को यहाँ धार्मिक भावना की प्रचुरता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जैन मतावलम्बियों की इस धार्मिक भावना में स्वावलम्बन, आत्मनिष्ठा तथा सर्वनिष्ठा के कारण उदारवादी भाव का आना सर्वथा स्वाभाविक ही है। ईश्वर के प्रति अविश्वास रहने पर भी जैनों में न तो धर्मोत्साह की कमी है और न धार्मिक क्रियाओं में शिथिलता ही है। तीर्थकरों के सद्वृत्तों का निरंतर ध्यान करते रहने से वे इस बात का स्मरण करते रहते हैं कि वे भी उनकी तरह सिद्ध और मुक्त हो सकते हैं। तीर्थकर चरित्र का बराबर चिंतन करते रहने से वे अपने आप को भी पवित्र करते हैं और मोक्ष-प्राप्ति के लिए अपने को सुदृढ़ बनाते हैं। जैनों के लिए पूजा-वंदना का उद्देश्य करुणा प्राप्ति नहीं है, उन्हें तो कर्मवाद जैसी अलंघ्य व्यवस्था में विश्वास है जिसमें दूसरे के लिए करुणा का कोई स्थान नहीं है। पूर्वजन्म के कर्मों का नाश, विचार, वचन और कर्मों की समुन्नति तथा कल्याण की प्राप्ति अपने ही कर्मों के द्वारा हो सकती है। तीर्थकर तो मार्ग-प्रदर्शन के लिए केवल आदर्श का काम करते हैं। जैन धर्म केवल उन पुरुषों के लिए है जो वीर और दृढ़चित्त हैं। इसका मूल-मंत्र मानों स्वावलम्बन है, अतः जैन धर्म में मुक्त आत्मा को 'जिन' और 'वीर' कहा जाता है। यहाँ जैन धर्म-मीमांसा अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद में स्वीकृत तथ्य 'मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधायक होता है' की पूर्वगामी प्रतीत होती है।

जहाँ तक दार्शनिक दृष्टि का प्रश्न है, जैन मत वस्तुवादी तथा बहुसत्तावादी है। अपने द्रव्य विचार के विवेचन में ये सभी द्रव्यों की सत्यता में विश्वास करता है। जीव-अजीव इसके उदाहरण हैं। अहिंसा का जैन धर्म-दर्शन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, जो मन, वचन और कर्म से जैन समर्थकों के अहिंसक होने का प्रमाण देता है। जहाँ तक अन्य मतों एवं अन्य धर्मों की बात है, यह सबके प्रति समादर का भाव प्रकट करता है। वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता तथा कोई भी विचार निरपेक्ष सत्य का प्रतिपादन नहीं करता और एक ही वस्तु के सम्बन्ध में दृष्टि, अवस्था, प्रसंग आदि भेदों के कारण भिन्न-भिन्न विचार की सत्यता की मान्यता (स्याद्वाद) यह सिद्ध करती है कि प्रत्येक विचार एवं व्यवहार अपने-अपने दृष्टिकोण से सत्य हैं। जैन धर्म-दर्शन के ये पक्ष इनके सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पहलुओं को अतिमहत्त्वपूर्ण, सर्वसमावेशी तथा उदारता के धरातल पर अवस्थित कर देते हैं। धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में इनकी लोकप्रियता तथा तर्कसंगतता प्रसिद्ध है। इनके द्वारा प्रतिपादित सद्गुण, परोपकारिता, परार्थ तथा शुभचिन्ता की अवधारणाएँ भावात्मक स्वीकरण योग्य हैं।

वर्तमान जीवन में जैन सिद्धान्तों को सहज प्राकृतिक रूप में अपनाने के प्रति उदासीनता देखी जाती है। इसका एकमात्र कारण मनुष्य के अंदर अनियंत्रित पाशविक प्रवृत्तियाँ और उनकी बढ़ती इच्छाशक्ति है जिसकी छाया में निरंतर बढ़ते विवेकीकरण के भाव का विच्छेद हो रहा है। समाज एवं संस्कृति में गिरावट एवं अधोमुखी सभ्यता का भी मूल कारण यही है। भेद-अभेद मन की उपज है जिसकी अभिव्यक्ति व्यवहार के माध्यम से होती है। आस्था की भिन्नता, स्वार्थपरकता, धर्म के क्षेत्र में पलने वाले मेरा धर्म, मेरी साधना की जन्मस्थली भी यही है। हिंसा, असहिष्णुता, हठधर्मिता की बढ़त धर्म को कृत्रिम बना देते हैं। इस प्रकार विचार, भाव एवं व्यवहार में लिपटे संघर्ष के समाधान का एकमात्र उपाय उदारवादी साक्षी-दृष्टि या तंत्र के रूप में मूल्यों की पहचान तथा अभियोग्यता और सबसे परे दाता एवं प्रापक की नैतिक गरिमा की पुनःस्थापना में निहित है। जैन धर्म-दर्शन इन सारी कसौटियों पर खरा उतरता है। वर्तमान में व्याप्त समस्या के समाधान हेतु जैनाचार्यों ने सामाजिक विभेद के लिए समत्व-भाव की साधना, वैचारिक मतभेद के पर्यवसान के लिए अनेकान्त-दृष्टि और विचार, संकल्प तथा आचार में अहिंसा-तंत्र को अपनाया है। अतः जैन धर्म-दर्शन द्वारा अपनाये गए सहज सुलभ कला-तंत्र जहाँ विचार की अनुग्राहिता, उदारवादिता तथा आदरपूर्ण विरोध की दृष्टि पर जोर देते हैं, वहीं इसे पूर्णता के विज्ञानी धर्म तथा पूर्णता के लक्ष्य की सिद्धि के प्रवाही धर्म-दर्शन के रूप में अवस्थित करते प्रतीत होते हैं।

## संदर्भ

1. *The Philosophy of Religion*, Progressive Publishers, Calcutta, Indian edition, 1963, p. 12
2. *History of American Philosophy*, IInd edition, Columbia University Press, 1963, p. 53
३. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, पृ० १०
४. न्यायावतारसूत्रवार्तिक वृत्ति, शांतिसूरि, पृ० ७७
५. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, पृ० १७
६. जैन तर्कभाषा, यशोविजय, पृ०-८
७. लोकतत्त्वनिर्णय - श्लोक-३८, उद्धृत, षड्दर्शन-समुच्चय-भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पृ०-१५९
८. *Theory of Knowledge*, Introduction, Prentice Hall, London, 1960. p. xiii
९. स्याद्वादमंजरी, श्लोक २६
१०. षड्दर्शनसमुच्चय, गुणरत्न की टीका, ४९
११. वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्या। तत्त्वार्थसूत्र, ५/२२
१२. षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० १६२
१३. वही, पृ० १७२
१४. तत्त्वार्थसूत्र, १/१



## भारत की सांस्कृतिक यात्रा में श्रमण संस्कृति का अवदान

डॉ० विनोद कुमार तिवारी\*

संस्कृत के 'धृ' धातु से निष्पन्न 'धर्म' शब्द अपने व्यापक स्वरूप में दो व्युत्पत्तियों को जन्म देते हुए अपने क्षेत्र विस्तार को निम्नलिखित रूपों में संकेतित करता है।

१. जिसे धारण किया जाय वह धर्म है ( धियते यः स धर्मः )। इस दृष्टि से सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि जिन सदगुणों को व्यक्ति धारण करता है, वे सब धर्म में अन्तर्भूक्त हो जाते हैं। धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धी विद्या सत्यम् क्रोधो दशकं धर्म लक्षणं' इत्यादि रूपों में की गयी परिभाषाएँ वस्तुतः धर्म की इस प्रथम व्युत्पत्ति की द्योतक हैं। 'जलाना अग्नि का धर्म है' इस वाक्य में प्रयुक्त धर्म शब्द इसी तथ्य का बोधक है कि अग्नि द्वारा जलाने का गुण धारण किया जाता है।

२. व्युत्पत्ति का दूसरा रूप है - 'धियते लोकः अनेन इति धर्मः' अर्थात् जो धारण करता है वह धर्म है। प्रश्न है कि किसे धारण करता है? समाधान है व्यक्ति को, समाज को, राष्ट्र को इत्यादि। तात्पर्य यह कि ऐसी सारी व्यवस्था, सारे नियम जिससे कोई समाज, राष्ट्र अथवा व्यक्ति नियन्त्रित एवं नियमित किया जाता है तो इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे भी धर्म कहेंगे। हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, इसाई धर्म इत्यादि रूपों में जब हम 'धर्म' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका तात्पर्य तत्सम्बन्धी समाज की व्यापक नियन्त्रण एवं नियामक व्यवस्था से ही होता है। इसी आधार पर सैन्य धर्म, छात्र-धर्म, शिक्षक धर्म किंवा राष्ट्र धर्म इत्यादि शब्दों का व्यवहार होता है। चूँकि कोई भी व्यवस्था देश-काल सापेक्ष हुआ करती है अतः तदनुसार परिवर्तन करते हुए 'आपद् धर्म' शब्द का प्रयोग भी धर्म में ही अंगीकार किया जाता है और जब सोच की यही व्यापकता सार्वजनीन एवं सार्वकालिक हो जाती है तो उसे 'मानव धर्म' अथवा सनातन धर्म के रूप में व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संक्षेपतः धर्म अपने मौलिक स्वरूप में जीवन की एक बहुमान्य पद्धति है जिसका अनुपालन करते हुए आत्मोत्थान के साथ ही एक सभ्य समाज का संकल्प भी उद्देश्य रहा है।

\* रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी०सी०एस०के० महाविद्यालय, मऊनाथ भंजन

इस दृष्टि से जब बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के साथ ही प्राचीन वैदिक धर्म पर दृष्टिपात किया जाता है तो स्पष्ट होता है कि इन धर्मों का अस्तित्व वैदिक धर्म के विरोध में नहीं, अपितु वैदिक धर्म की विकृतियों के विरोध में आया था। वेदों का उद्घोष था 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' अर्थात् एक वरेण्य श्रेष्ठ सभ्यता एवं संस्कृति का विकास। 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' की एक व्यापक मानवीय भावना का विस्तार वैदिक ऋषियों ने सोचा भी था। समाज को त्यागमय वृत्ति से जोड़ने के लिए उन्होंने निर्देश दिया था। 'शत हस्तः समाहर सहस्र हस्तः सीकर' अर्थात् सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो लेकिन हजारों हाथों से बाँटो! 'सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहै' की एक उदात्त भावना औपनिषदिक शान्तिपाठ में अनुप्राणित थी। लेकिन दुर्भाग्यवश काल पश्चात् ये सारी भावनाएँ तथाकथित विद्वानों, ब्राह्मणों एवं बुद्धिजीवियों के हाथों कैद हो गईं। बौद्धिक प्रदूषण ने समाज में वर्चस्व बनाकर इस वैदिक आर्षज्ञान को वैदिक कर्मकाण्ड एवं तत्सम्बन्धी पाखण्डों में जकड़ दिया। फलतः मूल मानव धर्म का ही क्षरण होने लगा तथा भारतीय समाज भी इन विकृतियों का ग्रास बन गया।

ऐसी ही अपसंस्कृति के काल में आशा की किरण के रूप में बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म का अभ्युदय हुआ। वैदिक यज्ञ के स्थान पर ज्ञानयज्ञ का काल आया। गौतम बुद्ध ने कहा - ब्राह्मण, मैं समिधा नहीं जलाता, हृदय की ज्योति जलाता हूँ। वह प्रतिक्षण जलती रहती है और इस प्रकार सद्ज्ञान एवं संस्कृति से उपेक्षित जन समुदाय को अपने ज्ञानोपदेश एवं आचरण द्वारा स्वतःस्फूर्त चेतना से समन्वित करते हुए प्रेरित किया - 'अप्य दीपो भव' अर्थात् अपना दीपक स्वयं बनो, अपनी अभ्युदय राह का निर्माण करो।

इस प्रकार सांस्कृतिक संचेतना एवं सांस्कृतिक उत्थान के एक नवीन युग का उन्मेष बौद्ध धर्म एवं जैनधर्म के तत्त्वावधान में 'श्रमण संस्कृति' के रूप में हुआ। इस सांस्कृतिक यात्रा में 'भ्रमण' एवं 'श्रमण' का बड़ा ही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। जहाँ वैदिक धर्म में 'प्रामेण देवमनयः स्वविमुक्ति कामाः, मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा' के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति मात्र आत्मचिन्तन तक सिमट चुका था वहीं श्रमण संस्कृति ने अपना चिन्तन-विस्तार जन-जन तक कर दिया। गौतम बुद्ध का स्पष्ट आदेश था : चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं" अर्थात् हे ! भिक्षुओं बहुजनों के हित के लिए बहुजनों के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्यों के सुख और हित के लिए परिचरण करते रहो। जैन धर्म में भी जब तीन प्रकार के

साधकों की मान्यता प्राप्त हुई तो मुण्डकेवली, गणधर एवं तीर्थकर की उपाधि भी इसी लोकहित के विस्तार के आधार पर प्रदान की गयी। यही नहीं जैन एवं बौद्ध धर्म के पञ्चमहाव्रत एवं पञ्चशील का सम्बन्ध भी इसी लोक चेतना के विस्तार से सम्बद्ध है। जैनधर्म के स्थानांगसूत्र में जिन दस धर्मों किंवा कर्तव्यों के निर्देश हैं, उनमें संघ धर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, कुलधर्म आदि रूपों में स्पष्टतया लोकहित की प्रमुखता परिलक्षित होती है। 'इतिवृत्तक' में बुद्ध का कथन है कि हे भिक्षुओं! दो संकल्प तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को हुआ करते हैं - १. एकान्त ध्यान का संकल्प, २. प्राणियों के हित का संकल्प।<sup>२</sup> हाँ! यह अवश्य है कि ये लोकहित भी वहीं तक आदरणीय हैं जहाँ तक वे नैतिक सीमा क्षेत्र में हैं। एक साधक विगलित शरीर वाली वेश्या की सेवा सुश्रुषा तो कर सकता है पर उसकी कामवासना की पूर्ति नहीं कर सकता। भूखे को भोजन तो दिया जा सकता है पर कहीं से चुराये गये भोजन से यह लोकहित अनुमन्य नहीं है।

सामाजिक समरसता के अपने इस व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपर्युक्त उभयधर्मों ने श्रमण परम्परा का पोषण किया जिसके अनुसार परिव्राजक रूप में तपश्चरण करते हुए सांसारिक सुखों से विरक्त होकर, सम्यक्-चारित्र के बल पर लोक-मंगल के कार्यों में साधकों को रत रहना था। वस्तुतः 'श्रमण' शब्द में ही एक ऐसे जीवन का संकेत है जो सुविधा भोगी नहीं अपितु 'श्रम' से अनुप्राणित हो। श्रमण संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी था कि साधकों का समाज के सम्भ्रान्त वर्ग की अपेक्षा जनसाधारण से मेल मिलाप हो, क्योंकि लोकजन के जीवन में प्रकाश प्रज्वलित करने की कामना ही इनका उद्देश्य था। इसी उद्देश्य से बुद्ध व महावीर दोनों ने ही सम्भ्रान्त वर्ग की भाषा संस्कृत की अपेक्षा लोकभाषा प्राकृत को ही अपने व्यवहार एवं साहित्य में आत्मसात किया। वैदिक समाज की ऊँच-नीच, छुआ-छूत आदि पर आधारित जाति व्यवस्था को नकारते हुए श्रमण संस्कृति ने एक सामाजिक समरसता की अजस्र धारा प्रवाहित की। वैदिक विवादों से बचते हुए समन्वयवादी 'स्याद्वाद' के दर्शन का निरूपण किया तथा अतिवाद से बचते हुए 'मध्यम मार्ग' को स्वीकृति प्रदान की। जीवन के संशुद्ध एवं सन्तुलित विकास के लिए अष्टांग-मार्ग एवं त्रिरत्न-सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र के अनुशीलन का पाठ पढ़ाया, क्योंकि यह दृढ़ धारणा थी कि रागादि कषायों से प्रच्छलित चित्त हुए बिना आत्महित, परहित, उभयहित किंवा सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य ज्ञान-दर्शन का कोई बोध नहीं हो सकेगा।<sup>३</sup> विहार-काल में इन श्रमणों को निर्देश था कि गाँव में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि से अधिक निवास न करें - गामे एगराइया, नयरे पंचराइया' ताकि उनके भीतर रागादि कषाय न उत्पन्न हों और न ही कर्तव्य विमुखता का भाव आ पाये।

भ्रमण करने की परम्परा बौद्ध एवं जैन धर्म की नितान्त मौलिक सोच थी। यदि भारतीय संस्कृति के विचार प्रवाह पर दृष्टिपात किया जाय तो ऐतरेयब्राह्मण के हरिश्चन्द्रोपाख्यान में पाँच श्लोकों के माध्यम से भ्रमण एवं पर्यटन की महिमा का ख्यापन करते हुए 'चरैवेति-चरैवेति' अर्थात् अगर् जीवन को सार्थक बनाना है तो 'चलते रहो - चलते रहो' का शाश्वत सन्देश दिया गया है। इस प्रकरण में पर्यटन की आवश्यकता, पर्यटन के लाभ आदि पक्षों पर भी सविस्तर विचार किया गया है तथा इसकी बहुत ही भावपूर्ण प्रस्तुति की गयी है, लेकिन श्रमण परम्परा तक आते-आते यह भ्रमण एवं पर्यटन लोकोपकारक एवं सांस्कृतिक समरसता का संवाहक बन गया, यही श्रमण संस्कृति का वस्तुतः विलक्षण अवदान है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'इदं न मम' की जिस निष्काम भावना से अनुप्राणित ऋषियों ने यज्ञ परम्परा किंवा लोकोपकारी कर्म परम्परा की स्थापना की थी उसका स्वर्णिम पक्ष ज्ञानयज्ञ के रूप में श्रमण परम्परा में ही प्राप्त हो सका। फलतः एक उदात्त सांस्कृतिक भावना का सम्पोषण हुआ। भारतीय सांस्कृतिक यात्रा में श्रमण संस्कृति का यह अवदान युग-युगों तक याद किया जाता रहेगा।

सन्दर्भ :

१. विनयपिटक महावग - १.१०.३२.
२. इतिवृत्तक - २.२.९
३. अंगुत्तर निकाय ३-७१.



## मिथिला और जैन धर्म

डॉ० अशोक कुमार सिन्हा\*

शतपथब्राह्मण<sup>१</sup> विदेह-माथव व उनके पुरोहित गौतम राहुगण के सरस्वती नदी तट से पूर्व की ओर बढ़ते हुए सदानीरा नदी के तट पर पहुँचने तथा इस नदी के पूर्व में अपना राज्य स्थापित करने का विवरण देता है, जो कालान्तर में विदेह (मिथिला) राज्य के रूप में विख्यात हुआ। इसकी राजधानी जनकपुर थी। शतपथब्राह्मण<sup>१</sup> में सदानीरा नदी को कोसल और विदेह की सीमा पर प्रवाहित होने वाली नदी बताया गया है।

विदेह राज्य की स्थापना सदानीरा (गण्डक नदी) के पूर्व में हुई, ऐसा माना जाता है। परन्तु इसकी सीमा का उल्लेख स्पष्ट नहीं है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वर्तमान बूढ़ी गण्डक ही पूर्व की सदानीरा नदी है, जो अपना मार्ग परिवर्तन कर वर्तमान में हिमालय पर्वत से निकल कर हाजीपुर के पास गंगा से संगम करती है। योगेन्द्र मिश्र<sup>२</sup> ने विदेह राज्य की सीमा को निर्धारित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार विदेह के पश्चिम में सीतामढ़ी, मुजफ्फरपुर और वैशाली जिला, पूर्व में कोशी, दक्षिण में गंगा नदी तथा उत्तर में हिमालय पर्वत-शृंखला फैली थी। उन्होंने इन क्षेत्रों के अतिरिक्त उत्तरी बिहार के कुछ और क्षेत्रों को भी सम्मिलित किया है, जैसे पूर्वी-पश्चिमी चम्पारण, किशनगंज, पूर्णिया, कटिहार तथा भागलपुर जिला का उत्तरी भाग।

विदेह राज्य को कई अन्य नामों से भी सम्बोधित किया गया है, जैसे- मिथिला, तैरमुक्ति, वैदेही, नैमिकानन, ज्ञानशील, कृपापीठ, स्वर्णलाङ्गपद्मत्ति, जानकीजन्मभूमि, निरपेक्षा, विकल्मषा, रामानन्द कुटी विश्वभाविनी, नित्यमंगला।<sup>३</sup>

शतपथब्राह्मण के आधार पर विदेह राज्य की स्थापना का काल निर्धारित किया जा सकता है। अभी तक कुछ विद्वान् विदेह राज्य की स्थापना का समय ईसा पूर्व ९वीं-८वीं शताब्दी मानते हैं। लेकिन यदि हम शतपथब्राह्मण का काल ३००० ईसा पूर्व से २५०० ईसा पूर्व का मानते हैं जैसा कि ज्योतिषशास्त्र के आधार पर कृतिका नक्षत्र की व्याख्या करते हुए गोरख प्रसाद दीक्षित<sup>४</sup> आदि विद्वानों ने इसके

\* प्रवक्ता (प्राचीन इतिहास), राजकिशोर सिंह महाविद्यालय, बरूईन, जमानियां, गाजीपुर (उ०प्र)



उदय की तिथि २५०० ईसा पूर्व मानी है तो विदेह राज्य की स्थापना का काल भी इसी के आस-पास होना चाहिए। शतपथब्राह्मण में कृतिका को वर्तमान कालिक के रूप में उल्लेखित किया गया है। कई विद्वानों<sup>६</sup> का मानना है कि हड़प्पा संस्कृति के पुरास्थलों का वसाव भी कृतिका के आधार पर ही पूर्व-पश्चिम दिशा में व्यस्थित किया गया है, जिसकी तिथि ३५००-२८०० ईसा पूर्व (आरम्भिक हड़प्पा) तथा २७००-२००० ईसा पूर्व (विकसित हड़प्पा) होनी चाहिए।

जैन विद्वानों<sup>७</sup> का मानना है जैन धर्म प्राचीनकाल में अर्हत् धर्म के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है। जैन धर्म का पूर्व रूप अर्हत् धर्म था। जैन शब्द महावीर के निर्वाण के लगभग १००० वर्ष पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया। ७वीं शती से पूर्व कहीं भी जैन शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि इसकी अपेक्षा 'जिन' व 'जिन धम्म' का उल्लेख प्राचीन है। जैन परम्परा का मानना है कि ऋषभदेव (प्रथम तीर्थंकर) से पूर्व मानव पूर्णतः प्रकृति पर आश्रित था। ऋषभदेव ने ही समाज-व्यवस्था एवं शासन-व्यवस्था की नींव डाली तथा कृषि एवं शिल्प द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना सिखाया। प्रकृति पर आश्रित समाज से कृषि तथा शिल्प पर आधारित जीवन प्रारम्भ करने की स्थिति को इतिहास एवं पुरातत्त्व की शब्दावली में नवपाषाण काल कहा गया है। भारतीय उपमहाद्वीप में ऐसी स्थितियाँ अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न कालों में आयी हैं। पश्चिमोत्तर भारत में यह स्थिति लगभग ७वीं-६ठी सहस्राब्दी ईसा पूर्व में प्रारम्भ हुई। इस दृष्टि से ऋषभ का काल ७वीं-६ठी सहस्राब्दी ईसा पूर्व माना जा सकता है।

**जैन धर्म के २४ तीर्थंकरों में से १९वें तीर्थंकर मल्लिनाथ एवं २१वें तीर्थंकर नेमिनाथ का सम्बन्ध मिथिला से है। मिथिला में ही उन दोनों ने दीक्षा ली और कैवल्यज्ञान प्राप्त किया।<sup>८</sup> बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य को भी चम्पा (भागलपुर) जो उस समय विदेह (मिथिला) का ही अंग था, में निर्वाण प्राप्त हुआ था। तीर्थंकरों के समय एवं कालों पर ध्यान दें तो महावीर का काल ६ठी शताब्दी ईसा पूर्व है। २३वें तीर्थंकर का काल (महावीर से २५० वर्ष पूर्व) ९वीं-८वीं शताब्दी ईसा पूर्व रहा होगा। २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (जैन मान्यतानुसार अरिष्टनेमि भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई) हैं। कृष्ण का काल अर्थात् महाभारत का काल फर्गुसन<sup>९</sup> ने ईसा पूर्व तेरहवीं शताब्दी माना है। आर० शास्त्री<sup>१०</sup> ने भी इसे तेरहवीं शताब्दी ई० पूर्व ही माना है। जबकि पार्जिटर<sup>११</sup> ने इसे १८०० ईसा पूर्व के लगभग माना है। इन तिथियों से स्पष्ट होता है कि २१वें तीर्थंकर नेमिनाथ का काल लगभग १८वीं शताब्दी ईसा पूर्व का रहा होगा। इस आधार पर बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य का काल मिथिला राज्य की स्थापना काल के आस-पास माना जा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि १८वीं शताब्दी ईसा पूर्व भी**

मिथिला जैन केन्द्र के रूप में विख्यात रहा होगा। यहाँ (मिथिला में) पर भगवान् महावीर ने छः वर्षावास<sup>१३</sup> बिताए तथा धर्मोपदेश दिया। बौद्ध ग्रन्थों में भी ऐसे अनेक दृष्टांत मिलते हैं; जिससे पता चलता है कि बुद्ध के समय वैशाली और विदेह के नागरिकों पर महावीर का अधिक प्रभाव था। जैनों का मत है कि विदेह आर्य देश का एक अभिन्न अंग था। यहीं तित्थयरों, गवहवाट्टियों और बलदेवों और वासुदेवों का जन्म हुआ था तथा वे यहीं सिद्धि प्राप्त किए थे और उनके उपदेशों के फलस्वरूप इन क्षेत्रों के अनेक नागरिकों ने संन्यास लेकर ज्ञान-प्राप्त किया था।<sup>१३</sup>

लगभग ५वीं शताब्दी ईसा पूर्व से मिथिला और वैशाली दोनों मगध साम्राज्य के अन्तर्गत आ गये। जैन धर्म की लोकप्रियता से प्रभावित होकर बिम्बिसार, नन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति खारवेल आदि कई शासकों ने न केवल इसे संरक्षण दिया, बल्कि इसका प्रचार-प्रसार भी करवाया। गुप्त काल में जैन धर्म के धार्मिक एवं अन्य साहित्य का संग्रह एवं सम्पादन हुआ। छठी शताब्दी और उसके बाद के अभिलेखों में जैन धर्म की अधिक चर्चा मिलती है। ह्वेनसांग ने भी अपने विवरण में लिखा है कि जैन धर्म भारत में तो फैल ही चुका था तथा उसके बाहर भी उसका प्रभाव धीरे-धीरे फैल रहा था। लेकिन तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक आते-आते उत्तर बिहार और उसके आस-पास के क्षेत्रों में जैन और बौद्ध धर्म का अत्यधिक हास हो चुका था। लेकिन १३वीं शती के तिब्बतीय बौद्ध यात्री धर्मस्वामी के विवरण में कहीं भी बौद्ध और जैनों का उल्लेख नहीं मिलता है। उसने तिरहुत (मिथिला) को बौद्धविहीन राज्य कहा है।<sup>१४</sup>

मिथिला राज्य की स्थापना वैदिक धर्म के विकास के रूप में हुआ था। परन्तु यहाँ पर कभी धार्मिक सहिष्णुता कठोरता को अंगीकार न कर सकी। कारण कि यहाँ पर प्रत्येक काल में धार्मिक विद्वानों ने धार्मिक सहिष्णुता को बनाये रखा। धार्मिक विषय में कठोरता लाने के विषय में हमेशा वाद-विवाद होता रहा लेकिन साम्यता बनी रही। राजा जनक और याज्ञवल्क्य का उदाहरण उपनिषद्-युग में देखने को मिलता है।

ऋषियों और दार्शनिकों ने पुरोहितवाद पर भयंकर आघात किया, उसकी घोर भर्त्सना की। फलस्वरूप ब्राह्मण-धर्म इस क्षेत्र में ज्यादा कठोर नहीं हो पाया। इस प्रकार के परिवेश में महावीर ने अपनी शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया तथा इस क्षेत्र में काफी संख्या में उन्होंने अपने अनुयायी बनाये। बुद्ध के जीवन-काल में भी लिच्छवि, मल्ल तथा काशी-कोसल के राज्य महावीर तथा अन्य निर्ग्रन्थ अनुयायियों के कार्य-क्षेत्र थे जिसमें राजगृह, नालन्दा, वैशाली, पावापुरी और श्रावस्ती जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। महावीर द्वारा दीक्षित धर्मोपदेशक अपनी सदाचारिता एवं अनुशासनिक कट्टरता के

फलस्वरूप तत्कालीन समाज में दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त किये। कालान्तर में पूर्व से चले आ रहे वैदिक धर्म (ब्राह्मण धर्म) तथा ईसा पूर्व छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म के अस्तित्व में आने तथा उन्हें राजकीय संरक्षण प्राप्त होने एवं जैन धर्म को बाद के राजाओं द्वारा संरक्षण नहीं मिलने के कारण जैन धर्म का हास होना स्वाभाविक था। साथ ही जैन धर्म के अपने कठोर नियम एवं संघ विवाद के कारण मिथिला क्षेत्र से जैन धर्म का पलायन हुआ, किन्तु पश्चिम भारत में उसने अपने अस्तित्व को बनाये रखा।

संदर्भ :

१. शतपथब्राह्मण - १.४.१.१०.
२. पूर्वोक्त - १.४.१.१४.
३. मिश्र, योगेन्द्र (१९८१) हिस्ट्री ऑफ विदेह, पटना, पृ० ४.
४. त्रिवेद, देव सहाय (१९५४) प्राङ्मौर्य-बिहार, पटना, पृ० ०१.
५. दीक्षित, शंकर बालकृष्ण (१९६१) भारतीय ज्योतिष, पूना, पृ० १३६-४०.
६. डानिनो, मिचेल, द हड़प्पा हेरिटेज एण्ड द आर्यन प्रॉब्लम, मैने एण्ड इनवार्नमेंट, पूना, xxviii (१) २००३ पृ० २२.
७. जैन, सागरमल, (२००४) जैन धर्म की ऐतिहासिक विकास-यात्रा, शाजापुर, पृ० ०२.
८. विविधतीर्थकल्प, भाग-१, कल्प १९.
९. एम० कृष्णमाचार्य, ए हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ५३.
१०. पूर्वोक्त, पृ० ५३-५४.
११. पूर्वोक्त, पृ० ५९-६०.
१२. जैन, कैलाशचन्द्र (२००५) जैन धर्म का इतिहास, भाग - १, नई दिल्ली, पृ० १७.
१३. अंगुत्तरनिकाय, २, पृ० १९०-९४, २००-२.
१४. होरिक, जी (सं०) बायोग्राफी ऑफ धर्मस्वामिन, पृ० ६०.



## जैन दर्शन में निक्षेपवाद : एक विश्लेषण

नवीन कुमार श्रीवास्तव\*

मानव अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। बिना भाषा के वह अपने विचार सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर सकता। मानव और पशु में एक बड़ा अन्तर यही है कि दोनों में अनुभूति होने पर भी पशु भाषा की अस्पष्टता के कारण इसे व्यक्त नहीं कर पाता जबकि मानव अपने विचारों को भाषा के माध्यम से भली-भांति व्यक्त कर सकता है। विश्व का कोई भी व्यवहार बिना भाषा के चल नहीं सकता। परस्पर के व्यवहार को अच्छी तरह से चलाने के लिए भाषा का सहारा और शब्द प्रयोग का माध्यम होना अनिवार्य है। विश्व में हजारों भाषाएं हैं और लाखों शब्द हैं। हर एक भाषा के शब्द अलग-अलग होते हैं। भाषा के परिज्ञान के लिए शब्द-ज्ञान आवश्यक है और शब्द ज्ञान के लिए भाषा ज्ञान जरूरी है। किसी भी भाषा का सही प्रयोग तभी हो सकता है जब हम अपने उन शब्दों का समुचित प्रयोग करना सीखें। जैन दर्शन का निक्षेप सिद्धान्त भाषा-प्रयोग के इसी व्यावहारिक स्वरूप को प्रस्तुत करता है।

वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द का अर्थ क्या है इसे ठीक रूप से समझ लेना जैन दर्शन की भाषा में 'निक्षेपवाद' है। निक्षेप का लक्षण बताते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा है- 'शब्द का अर्थ में और अर्थ का शब्द में आरोपण, अर्थात् अर्थ और शब्द को किसी एक निश्चय या निर्णय में स्थापित करना निक्षेप है।'<sup>१</sup>

निक्षेप का पर्यायवाची न्यास भी है। तत्त्वार्थवार्तिक में 'न्यासो निक्षेपः'<sup>२</sup> कहकर इसका स्पष्टीकरण किया गया है। जैन तर्कभाषा के अनुसार में 'शब्द और अर्थ की ऐसी रचना निक्षेप कहलाती है जिससे प्रकरण आदि के अनुसार अप्रतिपत्ति आदि का निवारण होकर विनियोग होता है।'<sup>३</sup> इसी प्रकार लघीयस्त्रय में कहा गया है कि निक्षेप की सार्थकता यही है कि उससे अप्रस्तुत अर्थ का निषेध और प्रस्तुत अर्थ का निरूपण होता है।<sup>४</sup>

शब्द को सुनकर अर्थ का ज्ञान श्रोताओं को एक-सा नहीं होता है। जो श्रोता व्युत्पन्न नहीं होता वह अवसर पर पद के उस अर्थ को नहीं जानता जिसमें वक्ता का

\* शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अभिप्राय होता है। किसी श्रोता को पदों के अर्थ का सामान्य रूप से ज्ञान होता है पर विशेष रूप से अर्थ को जानने की शक्ति नहीं होती। शब्द के अनेक अर्थ हैं, उनमें किस अर्थ को लेना चाहिए इस विषय में उसको संदेह हो जाता है। कभी-कभी इस प्रकार के श्रोता को भ्रम हो जाता है। उत्पन्न होने वाले संदेह, भ्रम और अज्ञान का निराकरण हो जाए उसके लिए निक्षेपों का विधान किया गया है। निक्षेपों को जानकर प्रकरण आदि के द्वारा श्रोता अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण कर लेता है और अन्य अर्थ का त्याग कर देता है। प्रकरण आदि को समझने में निक्षेप सहायता करता है। श्रोता पारमार्थिक अर्थ को जानकर निक्षेप की सहायता से उसका उचित स्थान में विनियोग कर सकता है।

जिस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं उसका विशेष अर्थ प्रकरण की सहायता से जाना जाता है, इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'सैन्धव' शब्द है। सैन्धव शब्द के दो अर्थ हैं और वे दोनों मुख्य हैं। एक अर्थ अश्व है और दूसरा अर्थ लवण है। यदि वक्ता कहे 'सैन्धवं आनय' अर्थात् सैन्धव को लाओ तो श्रोता सुनकर संदेह करने लगता है कि मुझे अश्व लाने को कहा गया है या लवण लाने को। निक्षेप के अनुसार जिसने जान लिया है कि सैन्धव शब्द का यहाँ पर भाव निक्षेप अश्व है अथवा लवण, उसको अश्व वाच्य है अथवा लवण इस प्रकार का संदेह नहीं होता।

संक्षेप में निक्षेप का अर्थ है - 'प्रस्तुत अर्थ का बोध देने वाली शब्द रचना या अर्थ का शब्द में आरोपण।' अप्रस्तुत अर्थ को दूर रखकर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराना इसका फल है। यह संशय और विपर्यय को दूर करता है। संख्या की दृष्टि से अधिक से अधिक वस्तु-विन्यास के जितने क्रम हैं उतने ही निक्षेप हैं किन्तु कम से कम चार अवश्य होते हैं-

१. नाम निक्षेप २. स्थापना निक्षेप ३. द्रव्य निक्षेप ४. भाव निक्षेप।<sup>१०</sup>

१. नाम निक्षेप : व्यवहार की सुविधा के लिए वस्तु को अपनी इच्छा के अनुसार जो संज्ञा प्रदान की जाती है वह नाम निक्षेप है। जैन तर्कभाषा में यशोविजय जी ने नाम निक्षेप को समझाते हुए कहा है - प्रकृत अर्थ की अपेक्षा न रखने वाला नाम या नाम वाले पदार्थ की परिणति नाम निक्षेप है।<sup>११</sup> नाम सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार का हो सकता है। सार्थक नाम 'इन्द्र' है और निरर्थक नाम 'दित्य' है। किन्तु जो नामकरण केवल संकेत मात्र होता है जिसमें उस वस्तु की जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं होती वह नाम निक्षेप है।<sup>१२</sup> किसी निरक्षर व्यक्ति का नाम विद्यासागर है या किसी गरीब व्यक्ति का नाम लक्ष्मीपति है। लेकिन विद्यासागर और लक्ष्मीपति का जो अर्थ होना चाहिए, वह उनमें नहीं मिलता। इसलिए ये नाम निक्षिप्त

कहलाते हैं। विद्यासागर का अर्थ विद्या का सागर और लक्ष्मीपति का अर्थ धन का मालिक है। विद्या का सागर होने से ही विद्यासागर कहना नाम निक्षेप नहीं है। यदि नाम के साथ-साथ इस प्रकार का गुण भी विवक्षित हो तो वहाँ नाम निक्षेप की अपेक्षा भाव निक्षेप सन्दर्भित होगा। यदि नाम निक्षेप नहीं होता तो हम विद्यासागर, लक्ष्मीपति आदि सुनकर अगाध विद्वता सम्पन्न एवं धनाढ्य व्यक्ति की ही कल्पना करते, पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इसलिए इन शब्दों का वाच्य जब अर्थानुकूल नहीं होता तब नाम निक्षेप ही विवक्षित समझना चाहिए।

नाम निक्षेप में मूल नाम ही विवक्षित होता है पर्यायवाची नहीं। जैसे किसी व्यक्ति का नाम इन्द्र रखा गया हो तो उसे सुरेन्द्र, देवेन्द्र, पुरन्दर, शक्र आदि शब्दों से सम्बोधित नहीं किया जा सकता।

२. स्थापना निक्षेप : जो अर्थ तद्रूप नहीं है उसे तद्रूप मान लेना स्थापना निक्षेप है। जैन तर्कभाषा में यशोविजय जी ने स्थापना निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा है – ‘जो वस्तु मूलभूत अर्थ से रहित हो किन्तु उसी के अभिप्राय से स्थापित (आरोपित) किया जाए वह स्थापना निक्षेप है।’<sup>१०</sup> मन के द्वारा भेद में अभेद का आरोप होता है। यह अभेद का आरोप स्थापना का मूलभूत तत्त्व है। अभेद का आरोप कहीं समान आकार को लेकर किया जाता है और कहीं पर आकार के समान न होने पर भी किया जाता है। गौ अथवा अश्व के आकार को काष्ठ, पत्थर अथवा पत्र में देखकर कहा जाता है कि यह गौ है, यह अश्व है। देखने वाला काष्ठ, गौ आदि के भेद को जानता है पर आकार के समान होने से चेतन गौ आदि का अचेतन काष्ठ आदि में आरोपण करता है। इसी प्रकार वृक्ष, पर्वत आदि के अचेतन चित्र में चेतन वृक्ष, पर्वत आदि का आरोपण कर व्यवहार चलाया जाता है। इसे दूसरी भाषा में इस प्रकार कह सकते हैं कि सेवक नाम का कोई व्यक्ति नहीं है परन्तु किसी मानवाकृति में सेवक को आरोपित कर उसके गुण-दोष का निरूपण करना स्थापना निक्षेप है।

३. द्रव्य निक्षेप : अतीत अवस्था, भविष्यत् अवस्था और अनुपयोग दशा-ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते इसलिए इन्हें द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। जैन तर्कभाषा में इसे बताते हुए कहा गया है- भूत भाव का अथवा भावी भाव का जो कारण निक्षिप्त किया जाता है वह द्रव्य निक्षेप है।<sup>११</sup> जैसे जो भूतकाल में इन्द्र पर्याय का अनुभव कर चुका है अथवा जो भावी काल में इन्द्र पर्याय का अनुभव करेगा वह इन्द्र है।

किसी समय घड़े में घी भरा जाता था, आज वह खाली पड़ा है। तथापि उसे घी का घड़ा कहना या घी भरने के लिए घड़ा मँगाया गया हो, अभी तक घी नहीं भरा

हो तथापि उसे घी का घड़ा कहना द्रव्य निक्षेप है। इसी प्रकार भूतकाल में जो न्यायाधीश था, अब निवृत्त हो चुका है उसे अब भी न्यायाधीश कहना अथवा भावी राजा को वर्तमान में राजा कहना द्रव्य निक्षेप है।

द्रव्य निक्षेप का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उसमें ऐसे अनेक वाणी प्रयोग संभव हैं जैसे भावी में राजा होने वाले को राजा कहा जाता है। राजा के मृत देह को भी राजा कहा जाता है। इस प्रकार भाव-शून्यता, वर्तमान पर्याय की शून्यता के उपरांत भी जो वर्तमान पर्याय से पहचाना जाता है, यही इसमें द्रव्यता का आरोप है, इसलिए इसे द्रव्य निक्षेप कहा जाता है।

४. भाव निक्षेप : जैन तर्कभाषा में यशोविजय जी ने भाव निक्षेप को परिभाषित करते हुए कहा है-वक्ता जिस क्रिया की विवक्षा करता है उसी अनुभूति से युक्त जो स्वत्व निक्षिप्त किया जाता है वह भाव निक्षेप है।<sup>१२</sup> जैसे 'इन्द्र' आदि की क्रिया में परिणत होने वाला भावेन्द्र है। निष्कर्षतः शब्द के द्वारा वर्तमान पर्याययुक्त वस्तु का ग्रहण होना 'भाव निक्षेप' है।

निक्षेप प्रत्येक घटित वस्तु पर किये जा सकते हैं। ऐसा नहीं है कि किसी पर घटित हो और किसी पर नहीं। यद्यपि इनकी संख्या कहीं अधिक और कहीं न्यून हो सकती है तद्यपि कम से कम चार निक्षेप तो सर्वत्र ही घटित होते हैं। जितने भी पदार्थ हैं वे चतुष्पर्यायात्मक होते हैं। कोई भी वस्तु केवल नाममय, स्थापनामय, द्रव्यात्मक अथवा केवल भावात्मक नहीं होती। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव - ये चारों एक ही वस्तु के अंग माने जाते हैं। किसी भी वस्तु की जो संज्ञा है वह उसका नाम निक्षेप है, उसकी आकृति स्थापना निक्षेप है, उस वस्तु का मूल द्रव्य द्रव्य निक्षेप है और उसकी वर्तमान पर्याय भाव निक्षेप है। यह अभेदवृत्तिक-निक्षेप का स्वरूप है।

**निक्षेप पद्धति की उपयोगिता :**

निक्षेप में शब्द और उसके वाच्य की मधुर संगति है। निक्षेप को बिना समझे भाषा के वास्तविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। अर्थसूचक शब्द के पीछे अर्थ की स्थिति को स्पष्ट करने वाला जो विशेषण लगता है यही निक्षेप पद्धति की विशेषता है। दूसरे शब्दों में 'सविशेषण भाषा प्रयोग' भी इसको कह सकते हैं। अर्थ के अनुरूप शब्द रचना या शब्द प्रयोग का ज्ञान सत्य वाणी का महान् तत्त्व है। चाहे विशेषण शब्द का प्रयोग न भी किया जाये तथापि वह विशेषण अन्तर्निहित अवश्य रहता है। यदि अपेक्षा दृष्टि का ध्यान नहीं रखा जायेगा तो कदम-कदम पर असत्य भाषा का प्रसंग उपस्थित होगा। जो किसी समय न्यायाधीश था वह आज भी न्यायाधीश है- यह मिथ्या हो सकता

है और भ्रमपूर्ण भी। एतदर्थ निक्षेप दृष्टि को विस्मृत नहीं करना चाहिए, यह विधि जितनी व्यावहारिक है उतनी ही गांभीर्य है।

संदर्भ :

१. णिच्छए णिण्णए खिवदि त्ति णिकखेओ। धवला षट्खण्डागम, पु० १, पृ० १०
२. न्यसनं न्यस्यत इति वा निक्षेप इत्यर्थः। - तत्त्वार्थवार्तिक, सम्पा०-न्यायाचार्य महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, पृ०-२८
३. प्रकरणादिवशेनाप्रतित्यादिवच्छेदकयथास्थान - विनियोगायशब्दार्थ-रचना-विशेषा निःक्षेपाः। यशोविजय कृत जैन तर्कभाषा, अनु० पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, पृ० ६८
४. अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेप : फलवान्। लघीयस्त्रय, ७/२
५. मुनि नथमल, जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा, आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राज०), पृ० १८२
६. वही
७. नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तत्रयासः। तत्त्वार्थसूत्र, २/५
८. तत्र प्रकृतार्थनिरपेक्षा नामार्थान्तरपरिणतिर्नामनिःक्षेपः। जैन तर्कभाषा, यशोविजय, अनु० पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, पृ० ६८
९. मुनि नथमल, जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा, पृ० १८३
१०. यत्तु वस्तु तदर्थवियुक्तं तदभिप्रायेणस्थाप्यते, स स्थापना निःक्षेपः। जैन तर्कभाषा, हिन्दी विवेचना- पं० प्रवर ईश्वरचन्द्र शर्मा, निक्षेप परिच्छेद, पृ० ९
११. भूतस्य भाविनो वा भावस्य कारणं यन्निक्षिप्यते स द्रव्य निःक्षेपः। वही, पृ० ११
१२. विवक्षितक्रियानुभूतिविशिष्टं स्वतत्त्वं यन्निक्षिप्यते स भाव निःक्षेपः। वही, पृ० १८





## ENGLISH SECTION

- **The role of Jainism in Evolving  
a Global Ethics** **Dr. Sohan Raj Tater**
- **Individual and Society in Jainism** **Dr. C. Krause**
- **Contribution of Buddhism and  
Postmodernism to Society** **Dr. Ram Kumar Gupta**

## The role of Jainism in Evolving a Global Ethics

Dr. Sohan Raj Tater\*

### New model for moral and spiritual progress

Jainism has got full ability to become a new model of Global ethics for moral and spiritual progress. The term 'moral' closely associated with ethics, comes from the Latin word '*mores*' which primarily stands for 'custom' and 'habit' and secondarily means character.<sup>1</sup> The person who leads highly moral life is appreciated in his family, society, state and even in his country. He feels himself fully contented and happy. *Moral values fulfill motto of individual's life.* High moral fellow gets higher position in collective life. Modern scholars have also emphasized the supra-moral nature of the ethical teachings of the Upaniṣads. Dr Radhakrishnan, while discussing the ethics of Upaniṣads, remarked, "Duty is a means to the end of the highest perfection. Nothing can be satisfying short of this highest condition. Morality is valuable only as leading to it."<sup>2</sup> Custom and habits of individual can only be changed by purifying internal emotions. Positive emotions give rise to positive thoughts which reflect good habit and custom of individual. Deussen has also very clearly pointed out this. He observes that when, "the knowledge of *Ātmā* has been gained, even action and, therefore, every moral action also has been deprived of meaning."<sup>3</sup> In the light of becoming a new model of global ethics for moral and spiritual progress Jainism says, "It is only after the acquisition of *Samyaktva* (spiritual conversion) that the soul attains the primary qualification for even marching towards emancipation from the wheel of misery. If *mithyātva* is the root of *saṁsāra*, *samyaktva* is the root of *mokṣa*. Ethics does not

\* Adviser, Jain Vishva Bharati University, Ladnun-341306 (Raj.)

deal with any particular conduct but with conduct in general. To gain right attitude, right vision, right faith is the gain of right conduct. As per Jainism "to gain happiness in life first of all one must gain *samyaktva*". All the conduct should be such as would bring us the maximum of happiness and remove miseries from our lives. *Samyaktva* can be obtained by gaining faith in nine fundamental elements of Jainism viz. *Jīva* (soul), *Ajīva* (matter), *Puṇya* (merit or virtue), *Pāpa* (sin or vice), *Āsrava* (influx), *Samvara* (stoppage), *Nirjarā* (shedding of karmic matter), *Bandha* (bondage) and *Mokṣa* (emancipation or salvation). Out of nine fundamental elements of Jaina philosophy, only two, the 'self' and the 'non-self' are dealt with from a metaphysical point of view; the other seven are mere corollaries of the problem of getting rid of miseries. *Sarvadarśana Samgraha* very beautifully summaries the position when it says, "*Āsrava* (inflow of karmic matter causing misery) is the cause of mundane existence and *samvara* (stoppage of that inflow) is the cause of liberation : this is the Jaina view (in short), everything else is only its amplifications."<sup>4</sup> Jainism gives lesson to perform noble activities every moment. The person who believes in moral values must rise above good and bad actions. One should try to search truth himself or herself. Truth and valuation are inseparable. Metaphysics and ethics are the two sides of the same coin. To get rid of miseries and to achieve happiness in life one should lead balanced life. Jainism puts much emphasis on equality and equanimity. Prominent Jainācārya Kundakunda says that vice and virtue are shackles of iron and gold respectively, both of which bind us to the physical world.<sup>5</sup> This Jainism qualifies ability to become new model of moral and spiritual progress for Global Civilization.

### **New model for individual and collective life**

Jaina philosophy inspires to lead peaceful individual happy life and harmonious collective life. One should be so disciplined that does not put any trouble to anybody in his daily life. The life of discipline in Jainism is prescribed in two forms : one, more rigorous

for a monk who has severed his ties with the world, and the other, for a householder who has a number of social responsibilities. Jaina vows are : *Ahiṃsā*, *Satya*, *Asteya*, *Brahmacarya* and *Aparigraha*. These are called *Aṇuvratas* when prescribed for householder and *Mahāvratas* when rigorously practiced by a monk. Jaina philosophy has provided some formulas for leading efficient individual and collective life. Jainism says that *dharma* is made of 'nonviolence, self-control and austerity.'<sup>6</sup> *Ahiṃsā* is so central in Jainism that it may be incontrovertibly called the beginning and the end of the Jaina religion. Thus, he who is able to realize *Ahiṃsā* completely, though not perfectly is called an ascetic or a *Muni*, Householders and ascetics are the two wheels on which the cart of Jaina ethics moves on quite smoothly. *Aṇuvrata* is the unique contribution of Jainism, which has got ability to become global ethics. The aim of individual and collective life is to achieve physical, mental and emotional perfect health. This triple health can only be obtained by doing virtuous deeds. One should never think bad of others. He should be always ready to help others and not to harm others. *Samyagdarśana* i.e. belief in *Arhat*, *Ācārya* and Religion preached by *Arhat* should always be deep dived in brain and heart of individual. *Ācārya* Samantabhadra proclaims that the adoration of *Arhat* deposits great heap of *puṇya* in the self. Positive emotions bring pleasures and negative emotions make life miserable. "Birth is misery, old age is misery and so are disease and death."<sup>7</sup> The main attraction "is a safe place in view of all, but difficult to approach, where there is no old age nor death, no pain nor disease."<sup>8</sup> "The transitory condition is like a wheel at a well before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul."<sup>9</sup> Jainism believes in highly disciplined ethics so it has full capability to become a new model for leading individual and collective happy and peaceful life.

### **New model for International order and Globalization**

Jaina Philosophy can prove itself new model for International order and Globalization. Man of today is living in a world, which is

much more complex than that of an ancient or mediaeval man. Interdependence among nations has increased; and this has brought an even widening and deepening impact on the economics, intellectual and social conditions of our existence. The scientific advancement has made countries one another's neighbours. Divergent races, divergent cultures and divergent outlooks have come in close relations.

Non-violence should be declared as an international religion. Jainism practices non-violence very minutely as principle and conduct also. Non-violence is the heart of Jainism. All worldly problems can be solved by keeping non-violence in centre. The national and international activities should be guided by the principle of non-violence and *Anekānta*. In order that the country may function properly without encroaching upon the inherent spiritual nature of man, it must identify itself with *samyagdarśana*,<sup>8</sup> *samyagjñāna* and *samyagcāritra*. The adoption and assimilation of *Anekānta* is *samyagjñāna*. The resolute and astute application of the policy of non-violence and *Anekānta* in national and international spheres for solving all sorts of problems will credit the country with *Samyagcāritra*.

Individual is smallest unit of whole world. If the smallest unit is morally pure and owner of good conduct we can hope that whole world can be truthful and follower of *Ahiṃsā*. The principle of non-violence really implies that life should be elevated altogether from the plane of force to that of reason, persuasion, accommodation, tolerance and mutual service.<sup>9</sup> The interrelations among different countries should be nourished upon truthfulness. Fraud or deception defiles the spirit of co-existence. The Jaina philosophy proves as new model of international order and globalization.

### **New model for Environmental protection**

Lord Mahāvīra defined, "Earth, water, fire, air, vegetables and small creatures all are animate". They have got souls and many times we have also taken birth in these vaginas. Environment consists of all these living organisms - earth, water, fire, air, vegetables and small

creatures. Jaina philosophy protects them and inspires for limited use of all these living things. Ethical discipline (*ācāra dharma*) is an important aspect of Jainism. The foundation of this ethical discipline is non-violence. No one has any right to destroy or harm any other living being. Every one wants to live and nobody wants to die. The laying down of the commandment not to kill and not to damage is one of the greatest events" as rightly observed by Albert Schweitzer.<sup>10</sup>

For attainment of salvation Jainism puts much emphasis on triple jewels *samyagdarśana*, *samyagjñāna* and *samyagcāritra*. Goal of individual's life is to achieve peace and happiness in life, which can only be achieved by good conduct. "As you sow, so shall you reap" is the most fundamental doctrine of Jaina ethical system. Man is the architect of his own fate. It is this belief, which holds him responsible for his own miseries and happiness. It is this belief again, which inspires him to ethical considerations in his conduct.<sup>11</sup> Passions like anger, ego, deceit and greed are the main causes of violence. We can protect Environment by reducing our greed i.e. by reducing our passions. Ego and attachment are causes of *saṁsāra*. We should control both ego and attachment to lead happy and peaceful life. Jainism has prescribed different experiments and trainings to reduce ego and attachment. Without greed ego cannot take birth. By limiting greed we can save environment and their components earth, water, fire, air, vegetables and small creatures, which are all living beings as per Jaina philosophy.

Good activities are to be deemed as a means and not as an end in itself. Even the subtlest form of passion in the form of ego is to be swept away. The moral virtues should be observed with the ultimate end in view without a tinge of egoism. The transcendental morality is not an excuse for moral slackness. The enlightened rise above the ordinary duties of life is the awareness of a higher purpose of life. The ordinary man should fulfill his duties with a detached view. Thus Jainism has non-violence and *Anekānta* such root fundamentals with the help of them it can prove itself new model of moral and

spiritual progress, individual and collective life, International order and Globalization and Environmental protection. Jainism has full capability to become a religion of public and of whole world. Jaina Philosophy has gone upto the subtlest application of non-violence in theory and practical both. In Jainism every action is weighed on the balance of non-violence, truth and *Anekānta*.

**References :**

1. Muirhead, John H., *The elements of Ethics*, London, 1910, p. 4.
2. Radhakrishnan, S., *Indian Philosophy*, Vol. I, p. 208.
3. Deussen, Paul, *The philosophy of Upaniṣads*, Edinburgh, 1919, p. 362.
4. *Sarvadarśana Saṁgraha*, Poona, 1951, p. 80.
5. *Samayasāra*, Delhi, 1959, Gāthā 146.
6. धम्मो मंगल मुक्कठं अहिंसा संजमो तवो। दशवैकालिक, १/१
7. *Uttarādhyayana*, Gurgaon, 1954, 19.15.
8. Ibid, 23.81.
9. *Iṣtopadeśa*, 12.
10. *World problem and Jaina ethics*, p. 9.
11. *Indian thought and its Development*, London, 1951, p. 82-83.



## **Individual and Society in Jainism**

**Dr. C. Krause\***

---

By birth and education, every one of us has been placed within the sphere of power of one or another of the great human civilizations, which exercised its influence on our bodily and mental training, and on the whole development of our personality, and even impressed, on the mind of the majority, the stamp of its particular religious dogma. Strengthened by history, tradition, custom, and convention, this net-work of influences fettered the individual nearly as firmly as those bonds of kinship do, that connect him with the race of his ancestors.

Still, as those bonds of kinship do not hinder a person from attaching himself with even stronger bonds, bonds of love and friendship, bonds of fellowship and mental affinity, to other, distant persons, just so that other bondage must not keep any body back from glancing around himself, discovering merits in heterogeneous religions, and measuring his own conceptions by the noblest of theirs.

But then, how to judge the merit of a religion, how to know what is great and noble in it? Is not one single religion, isolated from its sister-religions, like the isolated petal of a flower, the isolated note of a melody? Is it not, in its one-sidedness, comparable to the opinion of a single one of that group of blind men, who, standing before an elephant for the first time in their lives, tried to define its nature : the first, who happened to touch its forehead, declared the elephant to be a big pebble; the second from the touch of one of its tusks, defined it as a pointed weapon, the third, after touching the trunk, said the elephant was a leather bag; the fourth caught hold of one of the ears, and defined the whole animal as a flapping fan; the

\* *A renowned German Jaina Śrāvīkā*



fifth, after passing his hand over its back, declared it to be a mountain, the sixth, who had touched one of the legs, said the elephant was a pillar; and the seventh described it as a piece of rope, because he had just caught hold of the tail. Each of them grasped only part of the nature of the actual thing. And just so, each of the various religions on earth appears to make us see a different aspect of Truth Divine. How then are we entitle to speak of merit in one or another of them?

As a matter of fact, the individual, whenever acting, endeavours to act so as to establish or to maintain an optimum of physical well-being, in response to its innate egotistic instincts. In this activity, it feels itself often and again checked to another kind of inner voices, which (no matter whether they be called conscience, or categorical imperative, or social instincts, or whatever else) regularly warn it, whenever egotism tempts it to transgress one or another of the universal commandments of ethics, and to endanger, thereby, directly or indirectly the well being of the social body to which it belongs. Life seems to be nothing but an attempt of the individual to keep itself balancing, as it were, on the delicate line of demarcation between the postulates of egotism and those of ethics, avoiding to hurt its own interests on one, and those of society on the other side. This state of equilibrium is experienced, by the refined mind, as the optimum of inner happiness attainable under the given circumstances. It is that bliss, that “peace of God”, which religion promises to its followers.

For religion has always considered to be its task to indicate that line of demarcation winding along between those two postulates. Every religion has approached this task with boldness and determination, and in its own peculiar way, following its own particular character and tradition. If a religion has succeeded in fulfilling its task well, its doctrines must guarantee a state of perfect and permanent harmony between the well being of the individual and that of society, under whatever conditions imaginable. It is obvious that reversely, the degree and constancy of perfection characterizing the harmony of

the above two factors must allow us to judge the merit of the religion by which it is being vouched for.

Measured by this standard, there can be no question as to the high value of Jainism, that time-honoured religion, which goes back to the teachings of Vardhamānā Mahāvīra, the great contemporary and countryman of Gautama Buddha, and to his predecessors, for its teachings seem to guarantee indeed “the greatest happiness of the greatest number” not only of men, but of living beings, under all circumstances imaginable. This is why I make bold to draw the attention of the reader on this extraordinarily fascinating and important subject to-day.

According to Jainism, everything that lives, has got a soul, or to speak in the beautiful concise language of the Scriptures, is a soul. And all the souls are fellow-creatures : the god-like recluse in his purity and unshakable peace, the active man of the world with his never-resting ambitions, the innocent infant and the criminal, the lion and the nightingale, the cobra and the dragon-fly, the green leaf and the rose flower, the tiniest particle of water and the smallest of the corpuscles that compose the shining crystal, each of those myriads of beings that form the wings of the breeze, and of those that waver in the scarlet glow of fire : all are fellow-creatures, all are brothers. For all have got bodies, all have got senses, all have got instincts, all take food and digest it, all multiply, all are born and die, all are capable of suffering and enjoying, and all bear the germs of perfection within themselves. That means, all are able to develop, during the long chain of their respective existences subsequent to one another, their innate dispositions of perception, knowledge, activity, and joy, to a degree of highest perfection. And all find themselves placed in the middle of the struggle against “*Karma*”.

“*Karma*” designates that substance which we incessantly assimilate by our bodily and mental activity, and which remains latent in the depths of our personality, until it “ripens” at the critical moment,

destining the whole complex of our personality, as far as it is foreign to “soul”, and shaping our whole fate. We bind *Karma* by walking and speaking, by eating and breathing, by loving and hating, by helping and harming. And a different activity produces a different kind of *Karma*, which may ripen either immediately, or after some time, or even in one or another of our subsequent existence.

*yādṛśam kriyate karma tādṛśam bhujyate phalam*  
*yādṛśam upyate bījam tādṛśam prāpyate phalam*

“To the actions we do, corresponds the result we have to incur, as the fruit corresponds to the seed that has been sown.”

By acting in such a way as to do harm to others, we produce a *Karma* which will make us suffer to the adequate extent, and by acting so as to benefit others, we store up an adequate amount of latent happiness. There are moreover actions which destine our bodily constitution, our surroundings, and the length of our life, and there are actions which destine the limit within which we are allowed to perceive and to know, to enjoy and to be successful.

Thus, to bind good *Karma* by good deeds, means to secure the basis of a happy lot; to bind bad *Karma* by evil deeds, means to sow the seeds of future sorrow; and to stop the bondage of *Karma* completely, leads, if coupled with the consumption of all the remaining latent *Karmas*, to an elimination of every thing that is non-soul in our personality. It means self-realization; it means that final state in which the soul, free from all encumbrance, is soul and soul alone : soul in the fullest possession of perception, knowledge, strength, and joy. This is the state called *Mokṣa*, i.e., “Freedom,” the “Salvation” of Jainism.

The acknowledgement of the Law of *Karma* as the commonest of all natural laws (the law of conservation of forces, as it were, in the application to the psychical sphere) culminates in the glorification of the principle of *Ahimsā*, i.e., Non-injury, in Jainism. For, according

to the Law of *Karma*, a living being that causes a fellow-creature, even the lowest developed one, to suffer, be it in order to further its own advantage, or for any other reason, cannot do so without harming its own soul, i.e., without tumbling down a greater or smaller distance from the height of inner development it has reached, and without experiencing, earlier or later, as a mechanical consequence, a disturbance of its own harmonious equilibrium. What means suffering to one, can never be a source of real joy to another, and wherever it appears to be so, it is because our means of perception hinder us from being aware of the slow, but sure effectiveness of this Law of "Eternal Justice." This explains why the word "*Ahimsāparamodharmah*" i.e., "Non-injury is the highest of all religious principles," acts such an important part in the daily life of the religious inspired Jaina, whose sensible heart, a psychical galvanometer, as it were, warns him of every disturbance of well-being in the community of fellow-creatures around him, and spontaneously causes him to insert the resistance of self-control in the circuit of his own activity, or to restrain that of others in its proper course.

Strictly speaking, of all the religions that acknowledge the law of *Karma* in one shape or another, i.e., practically of all the Indo-Aryan religions, it is Jainism with its all-comprising highest theoretical as well as practical importance, and where its place is substantiated more logically than anywhere else. Moreover, Jainism (unlike various other religious systems) does not believe the soul to be completely helpless in its dependence of *Karma*, i.e., to be hopelessly condemned to act and react, like an automation, upon the consequences of its former deeds, and to be therefore, beyond all responsibility for its moral attitude and actions. But Jainism clearly states that the individual is gifted with a certain amount of freedom of will : a fact which has, up till now, hardly been emphasized to the due extent, by Western writers on Jainism. And still, this tenet forms one of the most important and most complicate chapters of the doctrine

of *Karma*, as expounded exhaustively in the Jaina Scriptures. They state, it is true, that the soul is indeed constantly under the control of *Karma*, that its body and its sufferings and joys are indeed shaped by *Karma*, and that even those passions that shake it, and all the fatal instincts that arise in it, are predestined by *Karma* : but, on the other hand, they most emphatically declare that the soul is endowed with the power of breaking, by its free resolution and activity, the most obnoxious of the fetters of this very *Karma*, of destroying its own evil dispositions, and of suffocating the flames of all the various kinds of passion, before they can overpower it. That means nothing else but that the first and essential step towards religious activity, is a pronounced act of free volition, and that the soul is indeed, to a considerable extent, the lord of its own fate.

Thus, Jainism does not terrify its followers by the terrors of *Karma*, nor does it make them languish in unhealthy, effeminate fatalism, as many people think all oriental religions do : but on the contrary, it trains the individual to become a true hero on the battlefield of self-conquest.

For it does presuppose a great deal of heroism on the part of the hearer, to make him fully realize the cruel irony of this play of life, viz., how they all strive after happiness by all means of physical and mental activity, from eating, drinking, sleeping, dressing, up to sport and play, traffic and trade, art and science, how they strive after happiness at any cost, even at the cost of the well-being of others, to reach, alas, just the contrary, viz, the binding of undesirable *Karma*, and therewith latent sorrow and suffering! to make him realize all this, and to make him know that he cannot even quietly sit and breathe without killing and harming life round about, killing and harming-brother-souls, and adding thereby to the stock of his own misfortunes! to make him aware of it and still encourage him to take up the desperate struggle against this world of dark facts within and about him!

How can he take up this desperate struggle?

*kahaṁ care kahaṁ ciṭṭhe kahaṁāse kahaṁ saye/*

*Kahaṁ bhanjanto bhāsanto pāva kammaṁ na bandhail/*

“How to walk, how to stand, how to sit, how to lie down, how to eat, and how to speak, without binding undesirable *Karma*?”

The *Daśavaikālika Sūtra* (IV. 7), after giving a detailed description of the harm people do to other creatures merely by carelessness, puts these question, and immediately lets the answer follow :

*jayaṁ care jayaṁ ciṭṭhe jayaṁāse jayaṁ saye/*

*jayaṁ bhunjanto bāsanto pāva kammaṁ na bandhail/*

“By walking with care, standing with care, sitting with care, lying down with care, eating with care, and speaking with care the binding of undesirable *Karma* can be avoided.”

The *Ācārāṅga Sūtra* discusses the subject in full breadth, and the *Sūtrakṛitāṅga Sūtra* which goes more into the depth of the abstruse problem, goes so far as to state (II. 4) that the soul is binding bad *Karma* at any time whatsoever, even if it does not directly do evil actions, i.e., even in sleep or in a state of unconsciousness. For as a man who has made up his mind to kill a certain person at the first best opportunity, goes about with his murderous intention day and night, and as his sub-conscious mind is constantly filled with those hostile sentiments towards that person, just so the individual is constantly filled with hostile sentiments towards the whole of creation, as long as he is inwardly prepared to satisfy, as soon as they will arouse him, his physical instincts, at the cost of the well-being of any other creature.

There is, according to the *Sūtras*, only one way by which the individual can save himself from binding bad *Karma* and that is the ‘*Pratyākhyāna*,’ i.e. the solemn vow of restriction concerning harmful

acting. For it is vow of not to do evil deeds, after all, but one must avoid them with full intention and deliberation. Thus, one can, e.g., vow not to eat meat in order to give an assurance of safety, “*Abhayadāna*,” the noblest of all gifts, to a large group of animals; one can vow to avoid eating at night in order to put another kind of limit to one’s actions connected with indirect harm for others: one can vow not to wear silk or fur, or leather foot-wear, for the benefit of the animal producing it; one can vow not to break flowers; or not to kill any animal whatsoever, down to worms and insects; one can vow not to waste any articles of daily use, such as water, fire, food, clothes, beyond one’s actual requirements; one can vow not to encourage the captivating and training of wild animals for the sake of sport or amusement, by avoiding to visit shows, etc., referring thereto; and one can vow to avoid thousands of similar actions connected with direct or indirect injury to other creatures. There are various kinds of *Pratyākhyānas*, from *Paratyākhyānas* of single action of the above character, up to the stereotyped group of the five all comprising *Pratyākhyānas*, called the *Pañca-Mahāvratā* or Five Great Vows, viz., the *Pratyākhyāna* of all physical injury whatsoever, that of all verbal injury, that of appropriating things arbitrarily, that of sexual intercourse and everything connected therewith, and that of keeping property or belongings of any kind. These five vows are taken by every Jaina monk at the time of his initiation in a form of absolute strictness. They comprise not only the doing of those objectionable actions, but also the causing of their being done and the approval one might give to their being done, by thought, word, and action. The five Great Vows guarantee indeed the optimum of faultlessness attainable in this world. And this optimum is only attainable by persons of the highest qualities, who do not care to keep up any attachment whatsoever. Thus, a genuine Jaina Muni, even one of the twentieth century, will never use any vehicle, nor shoes, nor keep money, nor touch a woman, nor kindle or sit before fire, nor use unboiled water, nor take any food containing a trace of

life, nor such food as has been prepared expressly for him, nor touch a green plant, for fear lest its delicate body might suffer from his bodily warmth, nor keep any property except his beginning-bowls, his stick and the scanty clothes that cover his body. And even these few things cannot well be called “property” in the sense of the Scriptures, because in their case, the characteristic which distinguishes property, viz, the attachment of the owner, is wanting. And there are even a group of Jaina monks who renounce these few utensils too, walking about unclad, and using their hands as their eating vessels. But there are only a few of them, in the whole of India : the “Digambara” or sky-clad monks, whereas the other branch, the “Śvetāmbara” or white-clad monks, come to thousands.

The standard of the usual *Pratyākhyānas* for lay men consists in the group of fixed *Pratyākhyānas* called the Twelve Layman Vows, which can be taken in various shades of strictness and in optional number. Though standing below the standard of the ascetical vows, still they represent a high form of ethical conduct.

Not only the Jaina monks, but also the laymen are very particular about taking and keeping, besides those groups of fundamental “Vows”, which are being taken only once in the whole life, and for life-time, a number of other, detached *Pratyākhyānas* of the above described character for an optional period. For the *Pratyākhyāna* is the very key to “*Mokṣa*”: constant binding alone can lead to final “Liberty.” Thus, there is practically no Jaina who will eat meat of fish or fowl, or even eggs, and there is no Jaina who will intentionally and without purpose kill or trouble a harmless living creature, be it even a fly. Most Jainas even avoid potatoes, onions, garlic, and other vegetables believed to be endowed with a higher vitality, as well as eating, and most Jainas take, for certain days, the vow of abstention from green vegetables, or from travelling and moving out, or the vow of chastity and vows of innumerable other things.



The theoretical and practical valuation of the different kinds and shades of *Pratyākhyānas* depends not only on their duration or on the quantity of the objects concerned, but first of all on their transcendental quality. For though all the souls, i.e., all the living creature, are equal in their original disposition, still they are observed to be in various phases of development towards perfection, in various stages of self-realization. According to the principle of economy, the higher developed ones are higher valued than the lower developed ones. Therefore, the *Karma* bound by harming higher developed being, is thought to be of graver consequences than that bound by injuring a lower creature. Thus, plucking a handful of vegetables is less harmful than killing a cow, killing a menacing tiger less harmful than the murder of a peaceful antelope, or punishing a dangerous criminal of less consequences than an offence done to a saintly monk. This valuation, by-the-by, seems to have a counterpart in those less refined, universally adopted conceptions, which, with all expressions of disgust, condemn cannibalism, but do not object to the slaughtering of animals for culinary and other purposes, or which strictly forbid the bloodshed of a human being, but allow the murdering of the murderer, all of which persons have ethics against them.

Thus much may be said concerning the *Pratyākhyāna* of “*Himsā*,” i.e., injury, that precaution against the binding of new latent suffering by deliberate abstention from actions connected with harm for others.

It has its counterpart in the attempts of securing new latent happiness, by furthering the well-being of others. Though there is no hope of gaining genuine, i.e., completely pure and unhampered happiness as long as any particles of *Karma* of either kind mar the soul, still a certain amount of good *Karma* is a necessary condition in order to secure that bodily and mental constitution from the basis of which the struggle against the obnoxious *Karma* particles can be successfully taken up. Good *Karma* is believed to be secured by charity, hospitality, and selfless service. And here too, a gradations

of objects can be observed. It is, of course, meritorious to practice charity wherever our heart is moved to compassion. It is meritorious to build Panjrapoles for the relief of poor, sick animals; it is meritorious to provide the poor hungry with bread, people suffering from cold with clothes, and homeless ones with a roof over their heads; still nothing can come up to the service done to a poor pious brother in Mahāvira. The more he comes up to the ideal laid down in the Scriptures, the higher is considered to be the merit of serving him. This explains the remarkable zeal with which one can see Śrāvakas (laymen) hasten to feast a brother Jaina, especially on the day when the latter breaks a fast of long duration; and it accounts for the readiness with which a Jaina community or Jaina institution hastens to receive and to give facilities even to a foreign scholar who happens to be a student of Jainism, and whose learned activity in connection with Jainism is considered to be an undoubted religious merit. And it explains, last but not least, the unspeakable pleasure and devotion with which a Jaina family sees approaching towards their door the saintly monk or nun, who will enter with the greeting of “*Dharmalābha*” or a similar formula, and will allow the lord or lady of the house to put a small quantity of eatables into their bowl, provided that this action includes no direct or indirect injury to anybody, and that everything is in strictest accordance with the rules of monastic conduct and decency.

Now I have been asked several times whether it is true that the Jainas as alleged carry the virtue of charity so far as to cause, now and then, some poor wretch, whom they pay off, to yield his body as pasture-ground for lice and fleas and other amiable creatures, and let them have their fill. According to my firm conviction, this horrible allegation must be a bold invention. And if it is perhaps, against all probability, true that some ill-informed fanatic did such a thing, then he would have acted in straight opposition to the tenets of Jainism : for to make a being so highly developed as a human soul

suffer in such a degrading way, in the name of all religions, would clearly fall under the heading of “*Himsā*” of worst and meanest injury, and would, besides, mean a downright insult to Religion in general.

Resuming, one can say that the social conduct prescribed by Jainism is characterized by the four attitudes “*Maitrī*”, *Pramoda*,” “*Kāruṇya*,” and “*Mādhyasthya*,” which have been grouped together in the following stanzas :

*mā kosāt kopi pāpāni mā ca bhūta ko’pi duḥkhitah!*  
*mucyatām jagadapyeṣā matimaitrī nigadyate!*  
*apāstāśeṣadoṣāṇām vastutattvāvalokinām*  
*guṇeṣu pakṣapāto yaḥ sa pramodaḥ prakīrtitaḥ*  
*dīneṣvātteṣu bhīteṣu yācamāneṣu jīvitām*  
*pratīkāraparā buddhiḥ kāruṇyam bhidhīyate!*  
*krūrakarmaṣu niḥśāṅka devataguru nindīṣu*  
*ātmaśamsiṣu yo’pekṣā tanmādhyasthyapamudīritani!*

“By *Maitrī*, i.e., amity, is meant that mentality which makes one wish that no creature should commit evil actions, that no creature should be suffering, and that the whole universe may find salvation.”

“*Pramoda*, i.e., joy, designates the fullest appreciation of, and admiration for the virtues of those who have shaken off all sin, and who can see through the essence of all things.”

“*Kāruṇya*, i.e., compassion, is that trend of mind which makes one wish to help all creatures in need, all that are afflicted, and all that ask for their lives.”

“*Mādhyasthya*, i.e., impartiality, is that indifference, or rather leniency one should always bear towards those who commit cruel actions, those who openly blaspheme the Divine, or the spiritual teacher, and those who are filled with arrogance.”

It is clear that all such principles, put in action, guarantee such an amount of happiness and peace within the whole brotherhood of living creatures, such a paradise-like state of general bliss, that one should wish them to be universally adopted and followed, to the benefit of all that lives.

On the other hand, it is true, they presuppose what appears to be a kind of sacrifice on behalf of the individual.

This apparent sacrifice at the cost of which that state of general well-being is being brought about, consists in a certain amount of personal happiness, or of expedients of the latter, which the individual has evidently to renounce, in the case of even the most insignificant of the *Pratyākhyānas*, and in every one of its positive altruistic efforts.

It is clear that the equilibrium of personal and general well being would indeed remain incomplete, and Jainism could not be said to have fulfilled its noble task in the ideal way claimed before, if the individual would feel the apparent sacrifice to be an infringement on its happiness. In reality, however, both the sides are in perfect equilibrium : for there are deliberations which not only reconcile the individual with that so-called “sacrifice,” but make it realized that it is, on the contrary, being benefited by it, and that this benefit by far outweighs the apparent disadvantage.

First of all, the motivation of the very “sacrifice” is, as we saw, an egotistic one : for if the individual submits to those restriction, it does so in order to avoid the binding of un favourable *Karma*, and therewith the storing up of latent suffering, and if it recurs to those actions of positive altruism, it does so in order to bind favourable *Karma*, and to secure latent happiness.

And both kinds of actions, those of negative as well as those of positive altruism, it does with the assistance of certain of its own natural dispositions, which form part of its “conscience.” I mean

those emotions of sympathy and “conscience.” I mean those emotions of sympathy and compassion, which make us place ourselves in the situation of a suffering creature and suffer, as it were, with it, especially when we have reason to feel ourselves responsible for its sufferings : as in the case of a night-flutterer rushing into the light we allowed to burn unscreened, in our carelessness, or in the case of a bird which was starved in its cage through our forgetfulness, or in the case of a helpless deer which we killed with our own hand, in fit of huntsman’s zeal, and the sight of whose mutilated body makes us after all, sick and miserable. It is that universal postulate, which Hemacandra, the great Ācārya and teacher of King Kumarapal of Gujarat, has expressed in that often quoted stanza ( *Yogaśāstra* II, 20) :

*ātmavatsarvabhūtcṣu sukhaduḥkhe priyāpriye  
cintayannātmanoniṣṭāṁ himsāmanyasya nācareṭṭ*

“In happiness and suffering, in joy and grief, we should regard all creatures as we regard our own self, and should therefore, refrain from inflicting upon others such injury as would appear undesirable to us if inflicted upon ourselves.”

Akin to dispositions of this kind is a certain sense of chivalrousness, a certain generosity, which overcomes us whenever we see a small innocent creature being at our mercy, provided our mind is calm enough to visualize its utter helplessness : that feeling which unfailingly overcomes even the case-hardened hunter on the occasion of battue-shooting, and which makes him, perhaps for an instant only, regret to have joined such an ungentle manlike sport as this wholesale slaughter of helpless creatures surely is.

Another feeling of this kind is a certain instinct of economy, which, with sensible persons, proves a powerful pleader in favour of *Ahimsā* : I mean that spontaneous conviction that it is not right to kill, or to cause to be killed, such a high organized creature as a

pigeon or a deer or a cow in order to flatter one's gluttonous appetites, when a dish of well-dressed vegetables would have served the same purpose just as well, if not better.

The appeasement of all these, and others of our social instincts, by avoiding the harming of, and trying to benefit fellow creatures, is, after all, in itself a valuable personal gain.

In addition to avoiding bad and securing good *Karma*, and to appeasing its innate social instincts, the individual gains, by its non-egotistic attitude, a third advantage, which is perhaps the most valuable of all : it consists in the lasting and genuine bliss, that only renunciation, can give.

For what is the good of trying to gratify all one's wishes, all one's passions, all one's ambitions? Is the advantage gained thereby, indeed worth so much hankering, so much worrying, and so much harm brought about? No, says the sage.

The happiness we crave for is transient like a dream, like a cloud, like beauty. It leaves the bitterness of its absence behind, as soon as it is passed, and it leaves behind, like a dose of opium, the ardent craving for more. It is just so as the *Uttarādhyayana Sūtra* states (IX, 48) :

*suvaṇṇarūppassa u pavvayā bhavē sīyā hu kelāśasamā asamkhaṇḍā  
naraṇṇa luddhasma na tehiṃ kiñci icchāhsu āgāśasamā aṇamtiyaḷḷ*

“Let there be mountains of gold and silver, let them be as high as the Kailāśa, and let there be innumerable ones of them : still to man in his greediness all this will mean nothing. For desire is boundless like space.”

So what is the good of a drop of nectar, when you are thirsty for a cup-ful? The cup-ful being denied to you, why bother about the drop? Shake off that foolish wish and forget it.

And further, if gained, the happiness you crave for means possession - possession of land or fortune, houses or fields, beauty or skill, friends or family, honour or reputation. A possession involves the sorrow of its maintenance. You have incessantly to take care of your land and of your fortune, you have to recur to lots of contrivances if you want to preserve your beauty or to retain your skill, you have to bring sacrifice over sacrifice for your friends and your family, you tremble for their lives when sickness shakes them, and suffer agonies when fate separates you from them, and the concern about his position and reputation, etc., has even proved able to urge a person to suicide and other desperate steps. In short, to speak in the words of Bhartr̥hari, the great Sanskrit epigrammatic write :

*Sarvaṃ vastu bhayānvitaṃ kṣititale vairāgyamevāmayaṃll*

“Everything on earth is unstable. The only stable thing is *Vairāgya* (i.e. world-weariness).”

What is the good of a happiness including so much agony? What is the good of this feasting with the Damocles-sword of sorrow threatening above your head? Would it not be much better to give up all this possession guaranteeing such a doubtful happiness? To give it up, as those saints of old did, of whom the *Uttarādhyayana Sūtra* (IX. 15 f.) says as follows :

*cattaputtakalattassa nivvāvārassa bhikkhuṇol*  
*piyaṃ na vijjai kiñci appiyaṃ pi na vijjaell*  
*bahuṃ khu muṇiṇo bhaddam aṇagārassa bhikkhuṇol*  
*savvato viṇṇamukkassa egaṃtamaṇupassaoll*

“To the begging monk, who has given up family life and all secular activity, nothing appears desirable and nothing undesirable.”

“Great indeed is the bliss of the monk, the homeless beggar, who is free from all attachment, and who is aware of his (which includes the metaphysical solitude of the soul).”

And then, say the wise, whether you hanker for its gain, or trouble for its preservation : all this happiness you are so particular about, means slavery in the last end. The anxiety you feel about it, fills you mind, and mars your thinking morn till night, so that, if you continuous worrying about business, your position, your hobbies, your friends, your pleasures and your wife and children, you do not find so much time as to ask yourself why you are doing all that, why do you live, what you live for, and where you are steering to. Do you think that you do not care to ponder over it. But in reality you are not free to do so, because you are the slave of your attachment to that empty, transient bit of happiness, which is in reality, no happiness at all. Would it not be much better for you to be unconnected with all this, to be your own mind prepared to be, like the *Rṣis* and *Munis* of old, who, in their meditations, unhampered by secular consideration, without comfort and property, without wife and children, without ambition and position, were in reality, the lords of the world.

*arthānāmarjane duḥkhamarjitānān ca rakṣaṇe|*  
*āye duḥkham vyau duḥkham dhig dravyaṁ duḥkhavardhanam||*  
*apāyabahulaṁ pāpaṁ ye parityajya saṁsritāḥ|*  
*tapovanam mahāstāste dhanyāste tapasvināḥ||*

“The acquisition of property, and if acquired, its preservation, both are connected with trouble. There is trouble in earning, and trouble in spending. Therefore, cursed be property the increaser of unhappiness.”

“Blessed are those ascetics, great souls are those ascetics who have given up sin, the producer of so much suffering, who have found a place of refuge in the grove of a hermitage.

It is not without reason that people in India have preferred giving to such “great souls” titles like “Svāimī,” “Mahārāja and others, which in olden times, were applicable only to truly renouncing



ascetics, who were living examples of the that renunciation means power, and who indeed experienced that royal happiness of asceticism, where there is

*na ca rājabhayam na ca corabhayaṁ  
ihlokasukhaṁ paralokahitam||  
naradevanataṁ varakirtikaram  
śramaṇatvamidaṁ ramaṇaoyataram||*

“No fear of the king, no fear of robbers, happiness in this, and bliss in the next world, reverence shown by men and gods, and the acquisition of true fame : delightful is this ascetical life.”

Or, in other words

*na cendrasya sukhaṁ kiñci na sukhaṁ cakravartinaḥ||  
sukhamasti viraktasya munerekānta jīvinah||*

“Nothing is the happiness of the king of the gods, nothing is the happiness of the emperor of the world, compared to the happiness of the world-weary monk in his solitude.”

All such considerations lead to the second great postulate of Jainism : *Samyama* or Renunciation, i.e., continuous self-control practiced by giving up one’s regards for physical happiness.

According to the Jaina conceptions, the individual is free to embrace whatever degree of renunciation it deems appropriate to its personal convictions and abilities. Just as Non-injury, *Samyama* too can be resorted to by various kinds of *Pratyākhyānas*. And, Non-injury itself being not practicable without *Samyama*, and *Samyama*, on the other hand, needs resulting in Non-injury, the *Pratyākhyānas* concerning the former practically fall together with those concerning the latter great principle. Thus the climax of *Pratyākhyānas* concerning Non-injury, viz, the five great vows of monks, non-harming, non-

lying, non-stealing, sexual renunciation, and non-property, forms, at the same time, also the climax of the *Pratyākhyānas* concerning *Samnyama*. The object is all the same, it is only the stand-point that has changed. For to the duty of omitting objectionable actions as far as they are fit to harm others, is being added the further obligation of omitting them also as far as they are fit to disturb one's own equilibrium and calmness of mind, and to detract one from that religious activity so essential for one's real welfare. Thus the principles of *Samnyama* especially stands in the foreground in such particulars as the absolute prohibition of heavy food, of aphrodisiacs, excessive sleep, sexual activity, intoxicating substances etc. for monks, and in the obligation of laymen to give up some of these things partially and some totally. The explicit command of the Scriptures never to give way to any of the four fundamental passions, viz., anger, pride, deceit, and covetousness, which last includes all kinds of attachment to lifeless as well as living things, and many other regulations, fall likewise under this heading, notwithstanding their being rooted in *Ahimsā* after all.

Another important expedient of securing one's personal metaphysical advantage in fullest accordance with the laws of ethics, is very closely akin to, and based on, renunciation : I mean *Tapa*, i.e., *austerity*, or self-imposed suffering, undertaken for religious reasons. The purpose which the Jaina has in view when practicing austerities, can be understood from the idea that all suffering means a consumption of bad *Karma*, and the voluntary undergoing of certain hardships has the further advantage of giving, at the same time, valuable assistance in the realisation of the two great principles *Ahimsā* and *Samnyama*.

To get rid of *Karma* is, as we saw before, the first step to self-realization, and therewith to the last transcendental bliss. This is the reason why austerity plays such an important part in the life

of the Jaina, the monk as well as the layman. According to the Jaina Scriptures, there are various ways of practising austerities, all of which are likewise solemnly started with the respective *Pratyākhyānas*, after accurately fixing their duration and to other items. With particular reference to *Tapa*, there are *Pratyākhyānas* by which the quality, quantity, and times of one's meals are reduced, from the simple giving up of special kinds of food, of eating at night, etc., and from partial fasts, and fasts of whole day or several days, up to fasts of more than a month's duration. There are further *Pratyākhyānas* by which one binds oneself to practise certain ascetical postures, to meditate for a fixed time, to devote a certain time to the regular study of the sacred and other religious Scriptures, or to the service of co-religionists, etc. Several forms of austerity are at the same recommended as strengthening and hardening one's bodily and mental powers, and as excellent furtherers of intellectual activity, as, e.g., the *Āyambila* Fast, a kind of bread-and-water diet which excludes all milk, fat, sugar, spices, etc., for a fixed time, and also certain *Āsanas*, or ascetic postures, indeed prove to be. Of quite a different character is the austerity called *Sallekhanā*, or *Samlekhana*, by which the individual solemnly resigns all food for the rest of his life, under formalities dealt with in the *Āvaśyaka Sūtra*, the whole last chapter of which is devoted exclusively to the subject "*Pratyākhyāna*." This form of austerity is indeed being recurred to by very religious people at the time when positively feel death approaching, and every hope of living on as vanished.

Thus it is true that Jainism allows, under certain circumstances, the vow of starvation. But it would be wrong to infer there from that its ideal is the extinguishment of personal activity at all. Just the contrary is true. Jainism promulgates self-realization as the aim of individual life : a self-realization which, at the same time, form the basis of the well-being of all that lives. The achievement of this self-

realization presupposes, on the part of the individual, the highest exertion of all bodily and mental powers, constant wakefulness, and an iron will, which precisely obeys the behests of intellect, bravely resisting all kinds of internal and external temptations. More practically speaking, it presupposes a reasonable kind of self-preservation in the narrowest limits possible. There is a parable, according to which six hungry travellers came to a mango-tree, and consulted as to how best to obtain its fruit. The first suggested to uproot the whole tree, as the promptest expedient, the second said that it would just do to cut the crown, the third wanted to cut some taller, the fourth some smaller branches, the fifth suggested that they should merely pluck as many fruit as they required, and the last said that the ripe fruit that the wind had blown down into the grass, would be amply sufficient to appease their hunger. The six men symbolize, in the above succession, the six *Leśyā* or “colours” of souls, representing types of increasing purity. It is quite characteristic of the spirit of Jainism that the representative of the white colour, or of the type of highest purity, advises to eat the fruit fallen into the grass, but not, as absolute and one-sided negation of life would suggest, to sit down in fullest renunciation and to die of hunger.

The postulate of Self-preservation within the reasonable limits of ethical decency is clearly and directly pronounced in the Jaina Scriptures, which recommend it, in critical cases, even at the cost of renunciation or *Samnyama* (*Oghaniryukti*, Stanzas, 47-48) :

*savvattha samjamāo appānameva rakkhijjā*  
*muccai aivāyāo puṇo visohī na yā'virāi*  
*saṃjamahau deho dharijjai ṇo kao o tatbhāvell*  
*saṃjamaphainimittam dehaparipalanā itthāll*

“Before all, one should guard the rules of renunciation, but even at the cost of renunciation, one should guard one’s self. For one

can get rid again of the sin of transgression, if one atones for it afterwards (by austerities), and it is as a matter of fact, not a case of *Avirati* (i.e., the state of not being under any *Pratyākhyāna* whatsoever, or the state of religious licentiousness).”

“The body is the instrument of renunciation. How could a man perform renunciation without it? Therefore, it is desirable to preserve the body for the sake of making one’s *saṁyama* increase.”

Thus, even the rules laid down for monks - for these two stanzas refer to monastic conduct - stand under the immediate influence of this principle. The monk, it is true, is supposed to fast and to renounce, to observe absolute chastity, to mediate, and to suffer all kinds of inconveniences and hardships, but he has on the other hand, to follow special prescriptions as to how to accept within narrow limits, pure food and other requisites offered, how to walk and how to sleep, how to sit and how to speak, how to serve fellow-ascetics, and how to receive their service, how to preach and how to dispute, how to work and how to move in the world as it is, with its saints and its criminals, its laymen and laywomen, its Hindus and Bauddhas, its scholars and peasants, and its king and beggars.

In short, he is taught how to regulate his whole bodily and mental activity in order to be in constant and undisturbed harmony with all that lives around him, under all conditions given. He is shown the way how to secure the optimum of his own personal happiness in such a manner as to contribute even thereby to the welfare of the world; or how to help making the world more perfect by his own perfection.

Thus, the very secret of Jainism is contained in the three important words “*Ahiṁsā*,” or Non-injury, “*Samyama*” or Renunciation, and “*Tapa*,” or Austerity; words which the famous stanza of the *Daśavaikālika Sūtra* (1/1) so beautifully groups together as essence of *Dharma*, i.e., Religion :

*dhammo maṅgalamukṭṭhaṃ ahimsā saṃjamo tavol  
deva'vi tam namāṃsanti jassa dhamme saya maṇoll*

“Religion is the highest of all blessings; it comprises *Ahimsā*, *Saṃyama*, and *Tapa*. Even the gods bow down to him whose mind is always centred in *dharma*.”

Then the *Sūtrā* (1/2-4) continues with the following classical verses, which are, like the above one, amongst the words to be daily recited by monks :

*jahā dummassa pupphesu bhamaro āviyaī rasaṃl  
na ya pupphaṃ kilāmei, so ya piṇeī appayaṃl  
eme e samaṇā muttā, je loc saṃti sāhuṇoll  
vihāṅgamā va pupphesu, dāṇa-bhattesaṇe rayāl  
vayaṃ ca vittim labbhāmo, na ya koi uvahammāil  
ahāgaḍesu rīyaṃti, pupphesu bhamarā jahāll*

“As the bee drinks honey from the blossoms of a tree and gets sated, without causing pain to the blossom, just so are those monks, who gave up all attachment and who are truly ‘good ones’ (original : ‘*Sādhu*,’ i.e., also ‘monks’) in the world. As the bees with the blossom, they are gratified with begging their alms,”

“Their device is ‘Let us find something to live on without any creature being harmed.’ This is why they go in quest of what they find ready, as the bee does on the blossoms.”

“Wise are those who act like the bees, and who are free from all bonds of dependence. Pleased they are with any food they obtain, and ever self-controlled. This is why they are called ‘*Sādhus*’ (i.e., ‘the good ones’ and ‘monks’).

The ideal of what human life can be like, and ought to be like, in the light of all these conception, is illustrated by the figure of the

*Jina*, or *Arhat*, the supposed initiator of a new period of reawakening Jainism after a period of decay. Many such *Arhats* are related to have appeared on earth, many are said to be living even now in distant regions, and many to be expected in future too. The *Jina* or *Arhat* is man at the summit of perfection, man at the threshold of *Mokṣa*, ready to enter *Siddhaśilā*, the place of eternal bliss, from where there is no return into this world of imperfection.

His *Karmas*, with the exception of some neutral ones, are fallen off from him, and the innate qualities of his soul are expanded in fullest beauty and majesty. He is omniscient, all perceiving, filled with infinite joy and infinite strength. He is free from all passion and attachment, free from desire - for desire is nothing but an expression of imperfection, and yet he is a man, and has to keep his human body as long as the neutral rest of his *Karmas* force him to keep it. He is man and, as one part of the Jaina tradition, that of the Śvetāmbara branch, so beautifully suggests, has to satisfy the requirements of his human body : to beg his food, to eat and to sleep, within the limits prescribed for a monk, since the rest of his *Karmas* require him to do so. And the rest of his *Karmas* also require him to live exclusively to the benefit of the world, i.e., of those souls that are still in the bonds of dangerous *Karmas*. For as long as he lives in his human shape, he goes about sowing to the whole of creation the right path, by preaching and teaching, and by the example of his own model life. And it is obvious that the activity and life of the perfect one does indeed turn out to be a blessing, for he cannot but attract crowds of followers and imitators.

This is what the Jaina worships as his highest religious ideal, his “god,” if one chooses to say so. He adorns his statue with pearls and diamonds, with roses and jasmine and costly champak flowers, he fans it, as one does a great king, with white chowries, he burns sweet frankincense before it, and builds beautiful temples over it,

beautiful and costly as fairy palaces, and he takes it round the city in gorgeous processions, on golden cars followed by crowds of singing women in gay-coloured, gold-glittering *sarees* : still he knows that his god dwells high beyond all this, and that all this *bhakti*, or pious service is nothing but an expression of his own admiration for his chosen ideal, and a kind of expedient to bring it closer before his eyes and the eyes of the world, both of whom are pretty well in need of it.

Jinahood shares the quality of all ideals, to be, in spite of - or perhaps just on account of - its undiminished and undiminishable attractiveness,, high above the bodily and mental standards of its admirers and imitators. And even Jaina-monkhood, its reflection on the rough mirror of actual life, is high above the standard of average man, and will always remain restricted - owing to the diversity of human dispositions to a few privileged individuals, wanderers as it were, on the heights of humanity. The institution of monkhood and all the other institutions of Jainism presupposing the world as it really is and humanity as it really is, the Scriptures do not account for the question as to what would be come of the Universe if all people would turn monks, and it remains undecided whether that venerable *Muni* was right, who replied to the idle questioner that in such a case the good *Karmas* of mankind would cause wish-trees to grow, and streams of *amṛta* to flow, and gods to descend from their celestial abodes and serve them.

But even if it is not possible for everybody perfectly to come up to that ideal, still, merely acknowledging it to be an ideal, and trying to cultivate as many of its virtues as one's constitution allows, even thus much is considered to be a step towards advancement.

This is what I think to be the secret of Jainism, and what is, at the same time, a mental attitude without which a real advancement of human culture is not possible. We are living in a generation which



encourages, by all means imaginable, a boundless egotism on one side, and on the other, an unrestrained violence offered to living creatures, in the shape of slaughter and war and misery : and then we think that our egotism can be satiated by regardlessness towards others, and that the violence we suffer, can be abolished by our doing violence to others. Has there ever been a greater and more fearful mistake ? Why not acknowledge now that we are wrong and that the way we have taken must lead to a hopeless degeneration? Why not comprehend at last that egotism cannot succeed unless it dissolves in altruism, and that a reasonable altruism must needs lead to perfect individual bliss? This clear and simple axiom is the basis of that time-honoured doctrine, which forms the legacy of the last *Arhat*, and which, even if taken as a symbol, represents such a noble image of eternal truth.

Having been asked so often as to what I think to be the innermost secret of Jainism, and what its merit as a practical religion, I have tried to give a short answer to-day, which the educated reader might be able and willing to follow. At first sight, it might appear to be a one-sided answer, because it is based on the one problem of the mutual relations of individual and society : still, this problem is one of vital importance, and it is, as I said before, the only touch-stone by which the value of a religion can be objectively ascertained.

I think there can be no doubt that Jainism stands the best.



## **Contribution of Buddhism and Postmodernism to Society**

**Dr. Ram Kumar Gupta\***

---

Buddhism and Postmodernism are based on rationality. Rationality leads to freedom. Freedom presupposes responsibility. Responsibility inspires human being to build himself up and society. Because, human being makes society and society makes human being.

This paper attempts to reveal the contributions of Buddhism and Postmodernism to society.

Śramaṇa tradition is based purely on Indian ideology. But Buddhism, one of the three major constituents of Śramaṇa tradition (Jainism, Buddhism and Ājīvaka) hardly follows the Indian spectrum. Probably Buddha was the first thinker on earth, who introduced the world with a new idea of human nature and its mundane life. Śākyaputra Gautama established a unique model of rational society different from those of Brāhmaṇa, Jains and the Ājīvikas. Today, Buddhism has become a beacon to global society. A unique instance of survival against the course of time through the rise and the downfall, as the law circumambulation in the nature around the human. Many sects and sub-sects have grown, developed and lost in the course of time. Despite that the rationality enunciated by Gautama Buddha continues in the natural process, because, the core of the Buddha's vision of social life is that principle which tells us how to nurture the individual personality of the human kind. A society is collective organization of individuals. Because the individuals hold forwardness and integrity, the society becomes strong. Therefore, Buddhism is the virtue of a human being. Buddha says - Be enkindle yourself. *Attadīpobhava / ātmadīpobhava.*<sup>1</sup>

---

\* *Reader, Deptt. of Philosophy, T.D. P.G. College, Jaunpur, U.P.*

So, it reveals that the Buddhism is closest to worldview of rational society insofar as the following features are concerned :

1. It emphasizes on experience and reason instead of faith.
2. Its emphasis is on possibility of emancipation in this life and in this world instead of in afterlife or in some other world.
3. Non-acceptance of the transcendental entities such as God and Soul.<sup>2</sup>

In this background Buddhism strongly condemned to the caste system. This was perhaps one of the main reasons that why Buddhism thrown out of the country. Buddhism spread in many countries outside India where caste system was a non-issue. It has a additional reason that Buddhism promotes a value which is centrally concerned with justice and which leads to the establishment of an ideal society based on perfect justice. In the words of Ambedkar, “The Religion of Buddha is perfect justice springing from a man’s own meritorious disposition.”<sup>3</sup>

The second major contribution of Buddha is doctrine of “*Karma* and *Rebirth*” which presented new dimension to society. Buddha’s theory of *Karma* is based on the law of causation or the doctrine of Dependent originations. Our present life is due to impressions of *karmas* of the past and it will shape our future life. *Karma* is an impersonal law which works by itself. Unlike the orthodox Hindu theory of *Karma*, Buddhist theory of *Karma* does not depend on any divine power. Also unlike the Jain *Karma*, the Buddha *Karma* is not subtle matter pulling down the soul from its spiritual height. Buddhism provides a unique rational fact in which life is a series of manifestations of becoming. There is nothing, Human or divine, that is permanent. And also rebirth is only a beginning of new life. According to Buddha, proceeding link does not perish before transmitting its content to succeeding link and so

the continuity is never broken.<sup>4</sup> The successor bears all the burden of the predecessor. It reveals that the man is the lord of himself. No one, accept him, is responsible for his bondage or freedom and can emancipate in this life and in this world only by his own's endeavour.

Third contribution of Buddhism, which did not philosophize any axiom or noumenon to the whole reality is his ethical code, because, when Ānanda asked the dying founder master about to who would succeed him, the master voiced, "my teaching is the code of discipline." Śākyaputra Gautama enunciated the ethical way for leading a good social life of individual. Buddha's ethical code is universal and sacred, and yet not transcendental but secular. Buddhism as a secular ethical code is different from the way of life based on belief in some supernatural power, God or soul and ritualism. Buddha declared three principles for leading a moral life. Those may be thus:-

1. Do not perform any act that hurts anybody
2. Perform that which brings forth merits to the individual
3. Cleanse one's mind thoroughly

A verse in the *Dhammapada* reads :

*sabba-pāpassa akaranam kusalassa upasampadā*

*sacitta pariodaāpanam etanam buddhānam sāsānam*

With there basic views, the Buddhist rationality could exhilarate a unique model of humanism - *Bahujana-hitāya, bahujana-sukhāya lokānukampāya athāya hitaya ca devamanussānām*.

So, there is a need of the purification of livelihood (ājīvapari-suddhi). The best way of earning livelihood is that of a honeybee. As a honeybee moves to the different flowers and without any harm either to the shape or colour of the flowers; collects sustenance and maintains its living, similarly, one should earn his livelihood without causing any injury to any one.<sup>5</sup>

Likewise Buddhism, Postmodernism also embraces rationality but it is well known fact that the conception of rationality can change according to time and circumstances and it is very difficult to decide what must be rational in all times and in all circumstances. Postmodernism conception of rationality may not be more advance than that of Buddhism.

Postmodernism is a contemporary intellectual movement that originated in the West. It is affecting all our spectrum of socio-cultural land even political milieu of present era. In philosophy. The term is used to refer to the post-structuralistic philosophy of the French philosophers Gilles Deleuze, Jacques Derrida, Michael Foucault, Georges Battaile, Jean Francios Lyotard and a host of contemporary thinkers.<sup>6</sup>

These thinkers argue for creation of new meaning and values of life. According to these authors, it is not culture that creates man; rather it is man who creates culture. For instance, Jesus Christ, Moh. Pagamber Sahab, Mausea etc. Postmodern authors intent to deconstruct the symbolic world of man in view of self-liberation and free self-formation. They also review the basic premises of human self-formation in our cultures such as rational thought, universal moral behavior, sexual differentiation, universal socio-political and cultural values and regulatory principles of life. Whatever anxiety is here has learned how to laugh and how we can live our freedom and creativity in its fullness. It is of Derrida's Deconstruction theory.<sup>7</sup>

Generally society rejects the insane, the mad, the poor and the wretched, the homosexual, the feminine and the castoffs. Postmodernists will embrace these sections of the society and focus their attention on these marginalized strata of society. This is called decentralization theory of postmodernism. Most of postmodernist authors focus freedom and spontaneity. The era of the triumphant industrialism, which reconstructed life for most of the western world is over and a new global era dawns where the west is forced to

recognize the competitive universe of co-players.<sup>8</sup> Postmodernism also denies transcendence of norms. All norms are relative and rational. The ideas of norms vary from place to place and people to people. This relative position of norms, according to postmodernists is true to their own view as well. This is called differentiation theory. Amidst the puzzling discussion on the nature of postmodernity James Beckford has provided a succinct characterization of post modernity that is useful for society.

It shot, it can be concluded that :-

1. Buddhism and postmodernism have greater acceptance of casteless pluralistic society
2. Both affirm the marginalized excluded society
3. Both accept that the man is the lord of himself and the builds himself up and his society
4. Both agree about the rational scientific outlook
5. Both accept the interdependency of human being and deny eternal-facts
6. Both accept theory of differentiation.

Both with optimistic and progressive vision are implacable, for materialism, secularism and scientific rationalistic society.

The questions arises why both the above paradigms are not effective. Further why the committed people devoted to these ideologies are not in the main stream, i.e. they are lying on the periphery of society, it is a fact that they are not adopted by the people in their lives yet, they accord appreciation for and reorganization to these ideas.

### References:

1. Hardy, R. Spence, '*A Manual of Buddhism*', New Delhi, 1996.
2. Omvedt, Gail : *Buddhism in India : Challenging Brahmanism and Caste*, Sage publication.

3. Ambedkar, B.R., *Buddha and his Dhamma*, Siddhartha Prakashan, Mumbai (Second Ed.).
4. Sharma, C.D., *'A critical survey of Indian Philosophy*, Motilal Banarsidas Pvt. Ltd., Delhi, 2000.
5. *Dhammapada*, verse no. 276.
6. Margaret Rose, *The Post modern and the Post-Industrial: A critical Analysis* (Cambridge; Cambridge University Press, 1991).
7. John D. Caputo, *Radical Hermeneutics, Repetition, Deconstruction and the Hermeneutic Project*, (Bloomington : Indian University Press, 1987) p. 147.
8. Daniel Bell, *The Coming of Post-Industrial Society : Aventure in Social Forecasting* (New York : Basic Books, 1973).



## विद्यापीठ के प्राङ्गण में

प्रोफेसर चन्द्रदेव सिंह का पार्श्वनाथ विद्यापीठ में भव्य स्वागत

२६ जुलाई, २००८ इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजाति विश्वविद्यालय, अमरकंटक के प्रथम कुलपति प्रोफेसर चन्द्रदेव सिंह का पार्श्वनाथ विद्यापीठ में हार्दिक स्वागत किया गया। स्वागत सभा की अध्यक्षता प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता प्रो० महेश्वरी प्रसाद ने की। माल्यार्पण एवं शाल देकर स्वागत डॉ० एस०पी० पाण्डेय, सह-निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने किया तथा मोमेन्टों प्रदान कर प्रो० कमलेश कुमार जैन ने प्रो० चन्द्रदेव सिंह का स्वागत किया। अपने स्वागत भाषण में उनके मित्र एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सह-निदेशक डॉ० एस०पी० पाण्डेय ने कहा कि यह प्रो० सिंह की अकादमिक ईमानदारी तथा दृढ़ संकल्प का ही परिणाम है कि आज वे सफलता के शिखर पर पहुँचे हैं। डॉ० पाण्डेय ने उन्हें कुलपति के रूप में उनकी जिम्मेदारियों को याद दिलाते हुए शुभकामनायें दी तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रो० सिंह के साथ बिताये लमहों की याद ताजा करते हुए डॉ० पाण्डेय ने कहा कि प्रो० चन्द्रदेव सिंह प्रारम्भ से ही अनैतिक कार्यों से समझौता न करने वाले तथा किसी भी कार्य को उसकी पूर्णता तक पहुंचाने वाले व्यक्ति रहे हैं। कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व अध्यक्ष प्रो० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी ने माननीय कुलपति महोदय के अत्यन्त गंभीर एवं अध्यक्षसायी व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए उनके सामने जो चुनौतियां हैं उन्हें साहस के साथ पूरा करने हेतु उन्हें आशीर्वाद प्रदान किया। प्रो० सीताराम दुबे ने प्रो० चन्द्रदेव सिंह को हार्दिक बधाई दी तथा उन्हें प्रा०भा०इति० एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का गौरव बताया। डॉ० ओंकारनाथ सिंह ने प्रो० सिंह के साथ बीते लमहों की याद ताजा करते हुये उन्हें कुलपति पद हेतु हार्दिक बधाई दी। अध्यक्षीय अभिभाषण में डा० महेश्वरी प्रसाद ने कहा कि छात्र जीवन से ही प्रो० सिंह अत्यन्त अनुशासित तथा गम्भीर छात्र रहे हैं। उन्होंने प्रो० सिंह को राष्ट्रीय जनजाति विश्वविद्यालय, अमरकंटक के कुलपति के रूप में नियुक्ति हेतु हार्दिक शुभकामनायें तथा बधाई दी। इस अवसर पर जो विभिन्न विश्वविद्यालयों से विद्वान उपस्थित थे उनमें मुख्य हैं - प्रो० उमेशचन्द दुबे, पूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०; प्रो० एस० विजय कुमार, दर्शन एवं धर्म विभाग, का०हि०वि०वि०; डॉ० हरिहर सिंह, प्रो० सीताराम दुबे, डॉ० ए०के० सिंह डॉ० ओंकर सिंह, डॉ० अहिरवार, प्रा०भा०इति० एवं पुरातत्त्व विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; डॉ० अजय श्रीवास्तव, सह-निदेशक, सारनाथ संग्रहालय, सारनाथ;



१२४ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ३/जुलाई-सितम्बर २००८

डॉ० निहारिका श्रीवास्तव, अग्रसेन महिला महाविद्यालय, वाराणसी; डॉ० वीरेन्द्रनाथ पाण्डेय (घायल जी), प्रो० चन्द्रकला त्रिपाठी, प्रो० बी०एन० त्रिपाठी, डॉ० सुमन जैन, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय आदि। कार्यक्रम का सफल संचालन डॉ० विजय कुमार तथा धन्यवाद ज्ञापन डॉ० एस०पी० पाण्डेय, सह-निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने किया। कार्यक्रम को सफल बनाने में श्री ओमप्रकाश सिंह का विशेष सहयोग रहा।

## ISSJS, 2008 Extension Program at Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi A Report

On 6<sup>th</sup> July 2008 seven students of ISSJS (International Summer School for Jain Studies) arrived at Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi to undertake their research project on a specific topic related to Jaina philosophy, culture and practices commencing from 6<sup>th</sup> July to 12<sup>th</sup> July 2008. The following students spent a week at Parshwanath Vidyapeeth regarding their project:



*ISSJS students with PV's staff and members of Jain society*

### 1. Michael Gollner

Address : 5468 Ave du Pasc # 60, Montreal,

QC H2U4G7, Canada

Ph. : 5142799891

Email : mgollner@alcos.concordia.ca

**2. Archphurich Nomnian**

Address : The College of Religious Studies,  
Mahidol University, Thailand  
Ph. : 6628664917/66852959518  
Email : callarchphurich@yahoo.com

**3. Yuneikys Villalonge**

Address : Monte 1156 Apt.1 e/Infanta 4 San Joaquin,  
Ceno Havana- 10300  
Ph. : 537-874-4955  
Email : yvillalonga@yahoo.es

**4. Angelica Zepeda**

Address : 100 Woodlawn# 109 Chula Vista CA 91910  
Ph. : 619-422-9435  
Email : anglicazepeda@cox.net

**5. Pavel Acosta**

Address : Monte 1156 Apt.1 e/Infanta 4 San Joaquin,  
Cerro Havana - 10300  
Ph. : 537-874-4955  
Email : pavelacostapapa@yahoo.es

**6. Nicole Dutram**

Address : 79 Maple Ave 3rd Floor Willimantic CT 06226  
Ph : 860-450-6710  
Email : dutram.nd@gmail.com

**7. Steven Smith**

Address : 79 Maple Ave, 3rd Floor Willimantic CT 06226  
Ph. : 860-457-8024  
Email : smithst@stu.easternct.edu

They arrived at Parshwanath Vidyapeeth late afternoon on 6<sup>th</sup> July, 08. After taking their lunch at Vidyapeeth they visited Ganga-ghats at evening.

On 07-07-08 the group went early in the morning to see the Sunrise of Banaras at the famous Ghats on the Ganges. After they

१२६ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ३/जुलाई-सितम्बर २००८

returned from Ghats, Professor Maruti Nandan Prasad Tiwari, Professor at Dept. of History of Art, Banaras Hindu University delivered his special lecture on Jaina Iconography from 9.30 morning to 1.30 PM. A question answer session was also held during the lecture. The students were very much satisfied with the lecture of Prof. M. N. P. Tiwari.

On the same day afternoon Shri Indrabhooti Barar, Jt. Secretary at the Managing Committee of Parshwanath Vidyapeeth, arrived by air from Faridabad to ensure that the program is going well. He had a formal introduction session with the students of ISSJS and asked them about problem if any regarding smooth running of the project.

On 08-07-08 Dr. Sujan Chand Jain, Director ISSJS, arrived Vidyapeeth from Delhi early in the morning to facilitate the program and to explore the facilities available at Vidyapeeth to run the further courses of ISSJS in future. Prof. N. H. Samtani, a noted scholar of Buddhism, delivered his special lecture on Jaina & Buddhist Ethics for the ISSJS students from 10.00 Am to 1.00 PM. Dr. Sujan Chand Jain and Shri Indrabhooti Barar also attended the lecture and participated in the fruitful discussion. Afternoon on the same day, a formal introduction session was held with the students and respected members of the Managing Committee of Parshwanath Vidyapeeth. Shri Kunvar Vijayanand Singh, Vice President and Shri Satish C. Jain, Finance Controller to PV were introduced to the students. They ensured Dr. Sujan Chand Jain and the students to extend their all cooperation to make the program a great success. They invited the students to visit their home and see the Jaina temples and the ceremonies going on there. Dr. Jain was happy with the arrangements done. He thanked Dr. S. P. Pandey for arranging valuable lectures on different subjects for the group. Dr. Jain also ensured Shri Indrabhooti Barar to send the students of ISSJS on regular basis to PV in coming years. He also gave his valuable suggestions to upgrade some basic facilities required in order to promote the Jaina Studies especially for foreign students. Dr. Sujan Chand Jain left for Delhi in the evening.

On 09-07-08 in the morning Dr. Sudha Jain, Senior Lecturer at Parshwanath Vidyapeeth engaged Yoga and Meditation classes for the ISSJS students which was continued till 11th July, 2008. This special class was most welcomed by ISSJS students. Prof. Shri Narayan Mishra, Former Professor and Dean, Faculty of Arts, Banaras Hindu University delivered his lecture on Hemcandra's *Yogaśāstra*. Mr. Michael A. Gollner attended the lecture. This lecture was also an eye-opener for Mr. Michael A. Gollner. After class was over, the students were engaged with their project. At 12.00 AM a Get-together party followed by a lunch was held to introduce the Students of ISSJS with dignitaries of local Jaina Samaj and academicians. Shri Girish Bhai Shah, Vice President, Varanasi Shvetambar Jaina Samaj, Kirti Bhai Dhruv, Gen. Secretary, Shri Suresh Kothari, Treasurer, Shri Jaina Shvetambar Tirth Society, Prof. Sudarshan Lal Jain, Former Head, Dept. of Sanskrit and Dean Faculty of Arts, Prof. Phoolchand Jain, Dept. of Jaina Darshan, Shraman Vidya Sankaya, Sampurnanand University, Prof. Kamlesh Kumar Jain, Dept. of Jaina & Bauddha Darshan, Banaras Hindu University, Dr. A. K. Jain, Reader, Dept. of Jaina & Bauddha Darshan, Banaras Hindu University, Prof. Kamal Giri, Director, Jnana Pravah, Dr. Neeraj Khare, Reader, Dept. of Hindi, Banaras Hindu University, Prof. Sitaram Dubey, Dept. of Ancient Indian History Culture & Archaeology, Banaras Hindu University were the prominent among the members present in the party. Intense interaction with the students and the representatives from Jaina Samaj and academicians took place during the lunch. After Lunch Shri Indrabhooti Barar left for Faridabad in afternoon.

On 10-07-08 Prof. Kamal Giri delivered her special lecture on Jaina paintings for the ISSJS students. Three out of seven attended this lecture. After lunch they went to city for purchasing and see the Ganga Ghats of Varanasi.

On 11-7-08 a program of local sightseeing was organized by the Institute. Dr. S. P. Pandey took the students to visit four prominent

१२८ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक ३/जुलाई-सितम्बर २००८

Jaina temples of Tīrthaṅkara Pārśvanātha, Sūpārśvanātha, Chandraprabha and Śreyāṁśanātha. It is worth to mention that Varanasi is the only city where sixteen *Kalayāṅkas- Garbha, Chyavana, Dīkṣā* and *Kevalajñāna* of four out of twenty-four Tīrthaṅkaras held. They visited Sarnath, the birthplace of Śreyāṁśanātha and the place where Lord Buddha delivered his first sermon to his Pañcavargīya Bhikkhus. They also visited Chandrapuri, the birthplace of Chandraprabha, which is 22 Kilometers for from the city.

On 12-08-08 except Mr. Michael A. Gollner, all left for Delhi by train. Mr. Michael Gollner stayed two days more in order to complete his project on Jaina Rituals. He visited few Jaina temples where a special *Aṣṭamaṅgala Pūjā* was being performed. He very minutely observed the whole process of *Pūjā* and got clarified some of the doubts he had.

On 13-07-08 Dr. S. P. Pandey also managed Mr. Michael A. Gollner to visit houses of some householders to watch the rituals being performed there. Mr. Gollner left for Delhi on 14<sup>th</sup> July 08 evening.

### **Comments of Mr. Michael Gollner about the ISSJS Program**

1. Regarding my stay at PV as part of ISSJS 2008, let me begin with the good points.

1. The accommodations were comfortable.
2. The food was very good.
3. Dr. S. P. Pandey was very helpful in arranging specialists in our respective fields.
4. The opportunity to practice Yoga in the morning was very welcoming.

### **Now some negative points:**

1. Not being informed of costs related to food and transportation from the railway was very disappointing. This point has left

a rather unpleasant blotch on what has otherwise been a pleasant stay.

2. The rooms in Guesthouse could use a treatment for cockroaches.
3. The distance between PV and the other centres in Varanasi is a slight deterrent, if only for the costs associated with getting to and from town.
4. The shortage of Internet (only one connection that is available from 7.00 am to 1.00pm) is a significant problem for those of us who depend on email and academic databases.

**Michael A. Gollner**



## जैन जगत्

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली में २०वें अखिल भारतीय ग्रीष्मकालीन प्राकृत भाषा एवं साहित्य पाठ्यक्रम का समापन समारोह

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली में २०वें अखिल भारतीय ग्रीष्मकालीन प्राकृत भाषा एवं साहित्य के ग्रीष्मकालीन सत्र का समापन दिनांक ०१ जून २००८ को सम्पन्न हुआ। भारत में प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आचार्य हेमचन्द्र व्याकरण के सूत्रों के द्वारा अध्ययन-अध्यापन कराने वाली यह एकमात्र संस्था है।

इस अवसर पर डॉ० जितेन्द्र बी० शाह (निदेशक, लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद) ने कहा कि प्राकृत भाषा केवल जैन समाज की है ऐसा नहीं है। आज विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में अभिज्ञानशाकुन्तलम, मृच्छकटिकम्, कर्पूरमंजरी, कुवलयमाला, गाथासप्तशती की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं जिसे समाज के हर वर्ग के अध्येता पढ़ते हैं। उन्होंने समारोह में उपस्थित भारत सरकार के प्रतिनिधि व अधिकारियों के समक्ष प्राकृत भाषा व साहित्य अकादमी खोलने का प्रस्ताव रखा।

विशिष्ट अतिथि डॉ० गोदावरीश मिश्र (सदस्य सचिव, आई०सी०पी०आर०, नई दिल्ली) ने 'रात्रिर्गमिष्यति ... ज्जहारः का उदाहरण देते हुये कहा कि आज सोचकर बैठने की जरूरत नहीं है, अपितु वर्तमान कनिष्ठ छात्र एवं आने वाली पीढ़ी के लाभ हेतु कटिबद्ध होकर कार्य करने की आवश्यकता है।

इस अवसर पर विशिष्ट अतिथि डॉ० पी०वी० जोशी (भारतीय विदेश सेवा, भारत सरकार) ने संस्थान द्वारा चलाये जा रहे ग्रीष्मकालीन विद्यालय (प्राकृत भाषा व साहित्य) की प्रशंसा की। साथ ही संस्थान को प्राकृत भाषा साहित्य के उत्थान हेतु तन-मन द्वारा अपना सहयोग देने की बात कही।

समारोह की अध्यक्षता करते हुये डॉ० के०के० चक्रवर्ती, आई०ए०एस० (सदस्य सचिव, आई०जी०एन०सी०ए०, नई दिल्ली) ने जैन आगमों का उल्लेख करते हुए उसमें स्थान-स्थान पर मागधी में प्रयुक्त शब्दों का वर्णन किया। अंत में आपने छात्र-छात्राओं से प्राकृत भाषा को देश-देशान्तर तक प्रचारित करने हेतु सहयोग आमन्त्रित किया।

संस्थान के उपाध्यक्ष श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन ने स्वागत वक्तव्य, संस्था के प्रतिनिधियों एवं ग्रीष्मकालीन विद्यालय (प्राकृत भाषा एवं साहित्य) पर संक्षिप्त प्रकाश डाला।

इस पाठ्यक्रम में प्रो० धर्मचन्द्र जैन (जोधपुर), डॉ० अशोक कुमार सिंह (दिल्ली), डॉ० दीनानाथ शर्मा (अहमदाबाद), डॉ० के०के जैन (जयपुर), डॉ० कमल के० जैन (पूना), डॉ० डी०के० राण (एन०एम०एम०, दिल्ली), कु० शालिनी शर्मा (दिल्ली) आदि ने अध्यापन कार्य किया।

पूज्य साध्वी द्वय देशनाश्री जी महाराज एवं परमश्री जी महाराज द्वारा णमोकार महामंत्र तथा श्रीमती दीपशिखा जैन द्वारा सरस्वती वंदना, डॉ० के०के० चक्रवर्ती, डॉ० गोदावरीश मिश्र, डॉ० पी०वी० जोशी, डॉ० जितेन्द्र बी० शाह, श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन द्वारा दीप प्रज्ज्वलन से कार्यक्रम का शुभारम्भ हुआ। कार्यक्रम का संचालन डॉ० बालाजी गणोरकर (निदेशक, बी०एल०आई०, दिल्ली) ने किया। श्री राजकुमार जैन (महासचिव, श्री आत्मवल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि, दिल्ली) ने विजय वल्लभ स्मारक एवं उसमें चल रहे प्रकल्पों पर प्रकाश डाला।

कार्यक्रम के अंत में श्री देवेन यशवन्त (कोषाध्यक्ष, बी०एल०आई० दिल्ली) ने धन्यवाद ज्ञापन दिया। तीन सप्ताह तक चले इस कार्यक्रम हेतु भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया था।

### सोलापुर में 'प्राकृत शिक्षण शिविर' सम्पन्न

प्राकृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है। इस भाषा को जीवंत रखने का परमश्रेय जैनाचार्यों को है। प्राकृत भाषा ने ही अनेक भारतीय भाषाओं को जन्म दिया। परन्तु पिछले कुछ शताब्दियों ने इसके हास को देखा है। भाषा लुप्त हो जाती है तो संस्कृति के जीवंत रहने की आशा भी नहीं की जा सकती।

प्राकृत साहित्य एवं जैन संस्कृति के विकास की दृष्टि से वर्तमान के श्रेष्ठ आचार्यों (आचार्य विद्यानन्द, आचार्य सुनीलसागर आदि) एवं डॉ० आ०ने० उपाध्ये जैसे कुछ विद्वानों ने ठोस कदम उठाये हैं। इसी क्रम में सोलापुर के पं० विद्युन्लता विद्यायतन संस्कृत व जैन दर्शन महाविद्यालय द्वारा परमपूज्य आचार्य सुनीलसागर जी के सान्निध्य में (महाराष्ट्र) श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन कासार मंदिर, झुंजेबोल सोलापुर में रविवार दि० २४ से ३१ अगस्त २००८ तक शिविर आयोजित किया गया। इस शिविर में प्राकृत के सुप्रसिद्ध आशुकवि प्रो० डॉ० उदयचंद जैन, उदयपुर एवं डॉ० महावीर शास्त्री द्वारा प्रारंभिक प्राकृत व्याकरण एवं प्राकृत बोलचाल का विशेष प्रशिक्षण दिया गया। बाहर से पधारनेवाले शिविरार्थियों की भोजन एवं आवास की उचित व्यवस्था समिति की ओर से की गयी।



## आचार्य हस्तीमल जन्म शताब्दी समारोह का पावन प्रसंग

अध्यात्मयोगी युग मनीषी परमाराध्य महामहिम आचार्य भगवन्त पूज्य श्री हस्तीमलजी म०सा० की जन्म शताब्दी समारोह का पावन प्रसंग (जनवरी-२०१० से जनवरी २०११) हमारे समक्ष उपस्थित हो रहा है। आचार्य भगवन्त साधना के बहुआयामी व्यक्तित्व थे। उच्च साधना के शिखर के साथ सामायिक स्वाध्याय की प्रेरणा हेतु सतत् जागृत एवं तत्पर रहने वाले महान् पुरुष की साधना-आराधना जन-जन को आकर्षित एवं श्रद्धाभिभूत करने वाली है। गुरुभक्ति, श्रद्धा एवं संघ-समर्पण होने के नाते हमारा यह कर्तव्य बनता है कि ऐसे युगपुरुष के प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति एवं उनके आदर्शों को जीवन में आत्मसात करने का लक्ष्य रखें। राष्ट्रीय स्तर पर इस पावन प्रसंग की साधना किस प्रकार की जा सकती है? किन आयोजनों के द्वारा इस शताब्दी समारोह को उत्कृष्ट एवं अनुकरणीय बनाया जा सकता है? इस सन्दर्भ में सभी सदस्यों से निवेदन है कि उक्त आयोजन हेतु अपने सकारात्मक सुझाव दें। अपने सुझाव शीघ्रातिशीघ्र संघ कार्यालय के पते पर भेजवाने का कष्ट करें जिससे यथा समय कार्यक्रमों की भूमिका बनाकर क्रियान्विति की जा सके।

### नवरतन डागा

#### महामंत्री

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी संघ  
घोड़ों का चौक, जोधपुर-३४२००१ (राज०)  
सम्पर्क- ०२९१-२६५४४२७, २६५४६७२  
मो०- ०९८२८०३२२१५



## साहित्य सत्कार

### पुस्तक समीक्षा

पुस्तक- जैन ज्ञान प्रकाश, लेखक- श्री ज्ञान मुनि जी, सम्पादक- आचार्य श्री शिवमुनि जी, प्रकाशक- भगवान् महावीर मेडिटेशन एण्ड रिसर्च सेंटर ट्रस्ट, कुप्पकला (पंजाब), संस्करण तृतीय- ई० सन् २००८, पृष्ठ- ६१५, मूल्य- रु० २००.००।

प्रस्तुत पुस्तक जैन धर्म-दर्शन की एक अनुपम कृति है जो दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में नौ अध्याय हैं जिनमें जैन धर्म-दर्शन के तत्त्वमीमांसीय पक्ष को प्रस्तुत किया गया है, जैसे- बन्धन-मोक्ष, जैन धर्म की शाश्वतता, आस्तिक-नास्तिक समीक्षा, ईश्वरमीमांसा, जैन धर्म और वैदिक धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म, जैन दर्शन और चार्वाक दर्शन आदि। कृति के द्वितीय खण्ड में भी नौ अध्याय हैं जिनमें धार्मिक एवं सैद्धान्तिक चर्चा की गई है। इसमें सप्त कुव्यसन-परित्याग, आगार धर्म, अनगार धर्म, चौबीस तीर्थंकर, स्थानकवासी जैन परम्परा, जैन पर्व, भावपूजा, लोक का स्वरूप आदि विषयों को समाहित किया गया है। परिशिष्ट में सन्दर्भ ग्रन्थ सूची, शब्द चित्र तथा आत्म शिव साहित्य की सूचना दी गई है।

पुस्तक की रचना प्रश्नोत्तर शैली में हुई है। प्रश्नों के माध्यम से गूढ़ तत्त्वों को सरलता से प्रस्तुत किया गया है। मानव उसी पर विश्वास करता है जो उसकी जिज्ञासा का समाधान करने के साथ-साथ उसे संतुष्टि प्रदान करता है। मानव द्वारा उपस्थापित उसकी जिज्ञासा को शांत करने के स्तुत्य प्रयास का फलश्रुति ही प्रस्तुत पुस्तक है। सम्पादक ने दो प्रकार की जिज्ञासाओं का उल्लेख किया है- भौतिक जिज्ञासा और आध्यात्मिक जिज्ञासा। प्रथम प्रकार की जिज्ञासा व्यक्ति को संसार में विकास करने का अवसर प्रदान करती है तो दूसरी प्रकार की जिज्ञासा से वह आत्मान्वेषण के पथ पर बढ़ता हुआ अपने भीतर परम समृद्धि के स्रोत को प्राप्त करता है। लेखक के मन में धर्म और दर्शन से सम्बन्धित अनेकों प्रश्न उमड़ रहे थे जो साधारण जिज्ञासुओं के सामने होते हैं। लेखक ने स्वयं उन सभी प्रश्नों का सटीक एवं सुन्दर समाधान बड़ी सरलता से प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ वर्तमान स्वरूप से पूर्व प्रश्नोत्तर शैली में दो बार प्रकाशित हो चुका है। तृतीय संस्करण आचार्य शिवमुनि जी के कुशल सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना हेतु लेखक साधुवाद के पात्र हैं। पुस्तक की साज-सज्जा सुन्दर है। जैन एवं जैनैतर सभी के लिए पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० सुधा जैन  
वरिष्ठ प्राध्यापक  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

पुस्तक- मोक्ष मार्ग की पूर्णता, लेखक- यशपाल जैन, प्रकाशक- पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर; संस्करण- प्रथम, पृष्ठ- २१३, मूल्य- १२ रुपये।

जैन धर्म-दर्शन की चरम परिणति मोक्षदायिनी है। मनुष्य की स्वाभाविक गति भी सुख की ओर ही होती है, कार्मिक स्वभाविकता और ऊर्ध्व गति के कारण वह लोक शिखर पर विराजता है, जहाँ पर वह अनन्त काल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुखों का भोग करते हुए अपने जन्म-मरण के चक्रकार आवर्तन से दूर रहता है। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की त्रिपुटी ही मोक्ष मार्ग है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन दर्शन में वर्णित द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म की अवधारणा का स्पष्ट विवेचन करता है, वहीं प्रश्नोत्तरी के माध्यम से इसमें अन्तर्निहित वैचारिक विवादों का सामन्जस्यपूर्ण निराकरण भी करता है। शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति द्रव्यमोक्ष है और रागादि भावों की निवृत्ति भावमोक्ष है। बन्ध हेतुओं (मिथ्यात्व व कषाय आदि) के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का क्षय होना ही वास्तविक क्षय है तथा आत्मा और बन्धन को अलग-अलग कर देना ही मोक्ष है। विद्वान् लेखक का प्रयास सरल से सरलतम व्याख्या की ओर है जहाँ मानव मन सहजता से आत्मसात कर जैन धर्म की मार्मिकता का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।

पुस्तक का द्वितीय खण्ड सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र को समर्पित है। परिणामों में स्थिरता, उत्तम भावनाएँ, जिनायतन आदि धर्म क्षेत्रों में रमण तथा शंकादि दोषों से रहित होकर सम्यक्-दर्शन को शुद्ध बनाया जा सकता है। प्रशम, संवेग, आस्तिक्य एवं अनुकम्पा- ये चार सम्यक्-दर्शन के गुण हैं और इनके माध्यम से सम्यक्-दर्शन तक पहुँच जा सकता है। सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही वह माध्यम है जो उपयोग की शुद्धता होने से जीव बन्धन के कारणों को नष्ट कर

देता है। बन्धन के नष्ट होने से जीव में संवर और निर्जरा की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। संवर और निर्जरा के पूर्ण होने पर जीव को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

पुस्तक का तृतीय खण्ड संग्रहीत खण्ड है जिसमें सम्यक्-दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं तथा उनमें अन्तर्सम्बन्धों की चर्चा की गई है। 'सम्यक्-दर्शन ही मोक्ष मार्ग में प्रधान है' की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए उसके भेद-प्रभेद, सम्यक् शब्द का महत्त्व, सम्यक्-दर्शन व सम्यग्ज्ञान में भेद, विभिन्न लक्षणों का समन्वय आदि की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। इस परिचर्चा से एक ओर जहाँ जैन धर्म-दर्शन की विशदता का ज्ञान होता है वहीं दूसरी ओर धर्म में उपस्थित विलक्षणता में विश्वधर्म बनने की संभावना की झलक भी दिखायी देती है।

प्रस्तुत पुस्तक जहाँ एक ओर दर्शन की गुह्यता को सरल बनाती है वहीं दूसरी ओर धर्म की मार्मिक रोचकता को संदेहात्मक नहीं बनते देती। साथ ही दोनों की तार्किक वैज्ञानिकता को पुष्ट आधार भी प्रदान करती है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० जयन्त उपाध्याय  
दर्शन एवं धर्म विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय  
वाराणसी



## साभार-प्राप्ति

१. रात्रिभोजन महापाप, सम्पादक- आचार्य राजयशसूरीश्वर, प्रकाशक- लब्धि विक्रम संस्कृति केन्द्र, टी/७/ए, शान्तिनगर सोसायिटी, अहमदाबाद-३८००१३, पंचम संस्करण-२००८, मूल्य- रात्रिभोजन त्याग।

२. ज्ञानसरोवर, लेखक- राजमल पवैया, प्रकाशक- तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल-४६२००१, प्रथम संस्करण, मूल्य-भेंट।

३. वर्तमान चौबीसी विधान एवं तीर्थंकर परिचय, राजमल पवैया, प्रकाशक- तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल-४६२००१, प्रथम संस्करण, मूल्य-रु० ४.००।

४. श्री समवसरण विधान, राजमल पवैया, प्रकाशक- तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल-४६२००१, प्रथम संस्करण, मूल्य-रु० १६.००।

५. जैन रामायण, रचयित्री- श्रीमती त्रिशला जैन, प्रकाशक- श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, (मेरठ), प्रथम संस्करण, मूल्य- स्वाध्याय या रु० ५०.००।

६. जीवनदान, रचयिता, श्रीमती त्रिशला जैन, प्रकाशक- श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, (मेरठ), प्रथम संस्करण, मूल्य- सदुपयोग या रु० ७.००।

७. भगवान महावीर जीवन यात्रा, लेखक- आचार्य विजय पूर्णचन्द्र सूरीश्वर, प्रकाशक-पंच प्रस्थान पुण्यस्मृति प्रकाशन, सुरत, मूल्य रु० ३०.००।

८. शब्दात्मक शालिभद्रनी ९९ पेटी, लेखक- आचार्य विजय पूर्णचन्द्र सूरीश्वर, प्रकाशक-पंच प्रस्थान पुण्यस्मृति प्रकाशन, सुरत, मूल्य रु० २०.००।

९. आचारांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध, बालावबोध), सम्पादक- उपाध्याय श्री भुवनचन्द्र जी एवं अमृत पटेल, प्रकाशक- श्री पार्श्वचन्द्रसूरी साहित्य प्रकाशन समिति, नानी खाखर, कच्छ (गुज०) प्रथम संस्करण, मूल्य- रु० १००.००।

१०. नन्दिनी टीका, टीका एवं अनुवाद- मुनि श्री प्रणम्यसागर जी, प्रकाशक- धर्मोदय साहित्य प्रकाशन, सागर (म०प्र०), प्रथम संस्करण, मूल्य रु० ३५.००।

११. पाइअविन्नाणकहा (पढमो-बिइओ भाग), कर्ता- आचार्य श्री विजय कस्तूरीश्वर जी, प्रकाशक- श्री रांदेरोड श्वे० मू० पू० जैन संघ, अडाजणपाटीया, सुरत।

१२. उत्तराध्ययनकथासंग्रह, सम्पादक- आचार्य श्रीमद् विजय श्रेयांसप्रभ-सूरीश्वर जी, प्रकाशक- श्रीस्मृतिमन्दिरप्रकाशनम्, अहमदाबाद, मूल्य रु० १६०.००।



# पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

## प्रकाशन-सूची

सन् २००८

पार्श्वनाथ विद्यापीठ अपनी स्थापना के ७२वें वर्ष में प्रवेश करने के उपलक्ष्य में ३१ मार्च २००९ तक अपने समस्त प्रकाशनों पर ५०% की छूट दे रहा है, अतः इसका लाभ उठायें।

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( भाग १ ) - (ग्रं०मा०सं० ६), लेखक : पं० बेचरदास दोशी; द्वितीय संस्करण : १६+३३०; मूल्य रु०- २४०.००; आकार: डिमाई, १९८९।
२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( भाग २ ) - (ग्रं०मा०सं० ७); लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन व डॉ० मोहनलाल मेहता; द्वितीय संस्करण; पृ०: १८+३६८, मूल्य: रु० - २४०.००; आकार : डिमाई १९८९।
३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( भाग ३ ) - (ग्रं०मा०सं० ११), लेखक: डॉ० मोहनलाल मेहता; द्वितीय संस्करण; पृ० : ८+५१०; मूल्य रु० - २४०.०० आकार: डिमाई १९८९।
४. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( भाग ४ ) - (ग्रं०मा०सं० १२), लेखक: डॉ० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल र. कापड़िया; द्वितीय संस्करण; पृ०:१७+३८६; मूल्य: रु० - १६०.००; आकार : डिमाई : १९९१।
५. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( भाग ५ ) - (ग्रं०मा०सं० १४), लेखक : पं० अम्बालाल प्रे. शाह; प्रथम संस्करण; पृ० ४०+२९४; मूल्य : रु० - २४०; आकार: डिमाई; १९६९।
६. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( भाग ६ ) - (ग्रं०मा०सं० २०), लेखक: डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी; प्रथम संस्करण; पृ० : ११+७१०; मूल्य : रु० १५०.००; आकार : डिमाई; १९७८।
७. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( भाग ७ ) - (ग्रं०मा०सं० २४) लेखक: पं० के० भुजबल शास्त्री, श्री टी.पी. मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै व डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर; प्रथम संस्करण पृष्ठ : १०+२४८+१६+५; मूल्य रु० १६०.००; आकार : डिमाई; १९८१।
८. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( खण्ड १ ) - (आदिकाल से १६वीं शताब्दी तक) - (ग्रं०मा०सं० ५३), लेखक : डॉ० शितिकंठ मिश्र; प्रथम संस्करण; पृ० १५+३७१; मूल्य : रु० - ३६०.००; आकार : डिमाई; १९८९।

९. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( खण्ड २ ) - ( १७वीं शती ) - ( ग्रं०मा०सं० ६६ ), लेखक - डॉ० शितिकण्ठ मिश्र; प्रथम संस्करण; लगभग ५५० पृ० मूल्य: रु० - २७०.००, आकार : डिमाई, १९९२।
१०. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( खण्ड ३ ) - ( ग्रं०मा०सं० ९१ ) लेखक- डॉ० शितिकण्ठ मिश्र; प्रथम संस्करण - १९९७; आकार - डिमाई; पृष्ठ - १६+६००, मूल्य : रु० - ३००.००।
११. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास ( खण्ड ४ ) - ( १९वीं शताब्दी ) ( ग्रं०मा०सं० ११५ ) ( I.S.B.N. 81-86715-39-8 ); लेखक - डॉ० शितिकण्ठ मिश्र; प्रथम संस्करण : १९९९; पृ० ९+३१४; मूल्य : रु० - २५०।
१२. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन - ( ग्रं०मा०सं० १९ ), लेखक : डॉ० गोकुलचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण; पृष्ठ २२+३६+२५८; मूल्य रु० - १५०.००, आकार : डिमाई; १९६७।
१३. जैन धर्म में अहिंसा - ( ग्रं०मा०सं० १७ ), लेखक : डॉ० बशिष्ठनारायण सिन्हा; द्वितीय संस्करण; पृष्ठ : १६+३१; मूल्य : रु० ३००; आकार : डिमाई; २००२।
१४. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यानक - ( ग्रं०मा०सं० १८ ), लेखक : डॉ० प्रेमचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण; पृ० ११+३६६; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार डिमाई; १९७३।
१५. तत्त्वार्थसूत्र ( विवेचन सहित ) - ( ग्रं०मा०सं० २२ ), उमास्वातिविरचित; विवेचक: पं० सुखलाल संघवी : डॉ० मोहनलाल मेहता व श्री जमनालाल जैन; पंचम संस्करण; पृष्ठ: २६+१३७+२७८; मूल्य: रु० १००.००; आकार: डिमाई; २००१।
१६. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन - ( ग्रं०मा०सं० २३ ) लेखक : डॉ० अर्हत् दास बण्डोवा दिगे; प्रथम संस्करण; पृष्ठ : २८+२५६+१६; मूल्य रु० - १००.००; आकार : डिमाई; १९८१।
१७. जैन प्रतिमा विज्ञान - ( ग्रं०मा०सं० २५ ) ( I.S.B.N. - 81-86715-19-3 ), लेखक : डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी; प्रथम संस्करण; पृष्ठ : १४+३१६+३४; मूल्य : रु० - ३००.००; आकार : डबल क्राउन; १९८१।
१८. आनन्दघन कारहस्यवाद - ( ग्रं०मा०सं० २८ ), लेखिका : साध्वी श्री सुदर्शना श्री जी; प्रथम संस्करण; पृष्ठ ३४२+१६; मूल्य रु०-१००.००; आकार : डिमाई; १९८३।
१९. प्राकृत दीपिका - प्रो० सुदर्शन लाल जैन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ : २०+२७२; मूल्य: रु० १००.०० ( छात्र संस्करण ); रु० २००.०० ( पुस्तकालय संस्करण ), आकार- क्राउन, २००५।

२०. जैन दर्शन में आत्म विचार - (ग्रं०मा०सं० ३१), लेखक : डॉ० लालचन्द जैन; प्रथम संस्करण : पृष्ठ ८+३१८+४; मूल्य : रु०-१००.००; आकार : डिमाई; १९८४।
२१. जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान - (ग्रं०मा०सं० ३२), लेखक : डॉ० कमलेश कुमार जैन; प्रथम संस्करण: पृ० १८+३५६; मूल्य : रु०-१००.०० आकार: डिमाई; १९८४।
२२. खजुराहो के जैन मन्दिरों की मूर्तिकला - (ग्रं०मा०सं० ३३), लेखक: डॉ० रलेश कुमार वर्मा; प्रथम संस्करण; पृ० १४+८१; मूल्य: रु० - ६०.००; आकार: डिमाई; १९८४।
२३. वज्जालगं ( जयवल्लभकृत ) - (ग्रं०मा०सं० ३४), सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक : पं० विश्वनाथ पाठक; प्रथम संस्करण; पृष्ठ १५+५२+५१३; मूल्य: रु०- १६०.०० आकार : डिमाई; १९८४।
२४. धर्म का मर्म - (ग्रं०मा०सं० ३६), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; द्वितीय संस्करण; पृष्ठ ७+५१; मूल्य : रु० - ४०.००; आकार : डबल क्राउन; १९८४।
२५. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ - (ग्रं०मा०सं० ३५), लेखक : डॉ० अरुण प्रताप सिंह; प्रथम संस्करण; पृष्ठ १२+२६१; मूल्य : रु० . १४०.००; आकार : डिमाई; १९८६।
२६. प्राकृत-हिन्दी कोष - सम्पादक : डॉ० के०आर० चन्द्र, प्रथम संस्करण; पृ० १५+८९०, मूल्य रु० - ४००.००; आकार : रायल आठपेजी; १९८७।
२७. आचाराङ्गसूत्र : एक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ३७), लेखक : डॉ० परमेष्ठीदास जैन; प्रथम संस्करण; पृष्ठ २९+१७७; मूल्य रु०-१५०.००; आकार : डिमाई; १९८७।
२८. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ४०), लेखक : डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'; प्रथम संस्करण; पृष्ठ - २८+१५+५४३; मूल्य : रु० - १६०.०० आकार : डिमाई; १९८७।
२९. अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा - (ग्रं०मा०सं० ४३), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण; पृष्ठ - ८१; मूल्य : रु० - ४०.००; आकार : डिमाई; १९८७।
३०. जैनधर्म में श्रमण संघ - लेखक : डॉ० फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी'; प्रथम संस्करण; पृ० - ७+८२; मूल्य रु० - २०, १९८७।
३१. हरिभद्रसूरि का समय निर्णय - (ग्रं०मा०सं० ४७), लेखक : मुनि श्रीजिनविजय जी; द्वितीय संस्करण; पृ० ७३; मूल्य : रु० - १०.००; आकार : डिमाई; १९८८।



३२. स्याद्वाद और सप्तभंगीनय ( आधुनिक व्याख्या ) - (ग्रं०मा०सं० ४७ (अ)) लेखक : डॉ० भिखारीराम यादव; प्रथम संस्करण; पृ० : ४४+२३०; मूल्य : रु०- १४०.००; आकार : डिमाई; १९८९।
३३. सम्बोधसप्ततिका (संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं पाद-टिप्पणी सहित) - (ग्रं०मा०सं० १७), अनुवादक : डॉ० रविशंकर मिश्र; प्रथम संस्करण; पृ० : ४६, मूल्य : रु० - २०.००; आकार : डिमाई; १९८६।
३४. प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन - (ग्रं०मा०सं० ४६), लेखिका : डॉ० (श्रीमती) कमल जैन; प्रथम - संस्करण; पृ० १२+२१२; मूल्य : रु० - १२०.००; आकार : डिमाई; १९८८।
३५. चार तीर्थकर - (ग्रं.मा.सं. ४९), लेखक : पं० सुखलाल संघवी; द्वितीय (पुनर्मुद्रित) संस्करण; पृष्ठ : ६+१४९; मूल्य : रु० - ६०.००; आकार : डिमाई; १९८९।
३६. अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी : सिद्धान्त और व्यवहार - (ग्रं०मा०सं० ५२), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण; पृष्ठ ४३; मूल्य : रु० ३०.००, आकार : डिमाई; १९९१।
३७. नम्यासुन्दरीकहा (हिन्दी अनुवाद सहित) - सम्पादक : डॉ० के०आर० चन्द्र; अनुवादक : डॉ० रमणीक भाई एम० शाह एवं पं० रूपेन्द्र कुमार पगारिया; प्रथम संस्करण; पृ० १४+१३२+१४०; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार डिमाई; १९८९।
३८. जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ - (ग्रं०मा०सं० ५७), लेखिका : डॉ० (श्रीमती) हीराबाई बोरदिया; प्रथम संस्करण; पृष्ठ : १६+४८+३२०; मूल्य: रु० - ३००.००; आकार : डिमाई; १९९१।
३९. जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ५६), लेखक : डॉ० शिवप्रसाद; प्रथम संस्करण; पृ० : २८+३३६; मूल्य : रु० - ३००.००; आकार: डिमाई; १९९१।
४०. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म - (ग्रं०मा०सं० ६१), लेखिका : डॉ० (श्रीमती) राजेश जैन; प्रथम संस्करण; पृ० २+४९०; मूल्य : रु० - ३५०.००; आकार : डिमाई; १९९२।
४१. मानव जीवन और उसके मूल्य - (ग्रं०मा०सं०५४), लेखक : श्री जगदीश सहाय श्रीवास्तव; प्रथम संस्करण; पृष्ठ १०+१११; मूल्य : रु० - ६०.००; आकार : डिमाई; १९९०

४२. जैन मेघदूतम् ( भूमिका, मूल, टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित ) - (ग्रं०मा०सं० ५१), लेखक : डॉ० रविशंकर मिश्र; प्रथम संस्करण; पृ० : ६+७४+१२५; मूल्य: रु० - २००.००; आकार : डिमाई; १९८१।
४३. जैन धर्म-दर्शन (ग्रं०मा०सं० १९), लेखक : डॉ० मोहनलाल मेहता; प्रथम संस्करण; पृ० : ११+६०५; मूल्य : रु० २००.०० - आकार : क्राउन; १९९९।
४४. स्वाध्याय - लेखक : महात्मा भगवानदीन; प्रथम संस्करण; पृ० : ८+१९२; मूल्य: रु० - ६०.००; आकार : क्राउन; १९५७।
४५. मगध - लेखक : श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'; प्रथम संस्करण; पृष्ठ : ६२; मूल्य: रु० - ३०.००; आकार : क्राउन; १९५४।
४६. भारत के प्राचीन जैन तीर्थ - (ग्रं०मा०सं० ८), लेखक : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण; पृ० : ६८+२०; मूल्य रु० - ६०.००; आकार : डिमाई; १९५२।
४७. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य - (ग्रं०मा०सं० १३), लेखक : डॉ० उमाकान्त पी० शाह; प्रथम संस्करण; पृ० : ५०; मूल्य : रु० २०.००; आकार : डबल क्राउन; १९५६।
४८. उत्तराध्ययनसूत्र : एक परिशीलन ( गुजराती ) - (ग्रं०मा०सं० १३४), लेखक : डॉ० सुदर्शनलाल जैन; अनुवादक : प्रा० अरुण शान्तिलाल जोशी, प्रथम संस्करण; पृ० : १६+५३२; मूल्य : ३००.०० आकार : डिमाई; २००१।
४९. आत्ममीमांसा - (ग्रं०मा०सं० १०), लेखक : पं० दलसुख मालवणिया; प्रथम संस्करण; पृ० : ६+१५२; मूल्य : रु० - ७५.००; आकार - क्राउन; १९५३।
५०. जैन कर्म सिद्धान्त का उद्भव और विकास - लेखक : डॉ० रवीन्द्रनाथ मिश्र, पृ० : ११+२४८; आकार : डिमाई, प्रथम संस्करण १९९३; मूल्य : रु० २००.००।
५१. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय - (ग्रं०मा०सं० ५९), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; पृ० : ४००, आकार : डिमाई, प्रथम संस्करण १९९३; मूल्य : रु०- २००.००।
५२. नेमिदूतम् - (ग्रं०मा०सं० ६८), व्याख्याकार : डॉ० धीरेन्द्र मिश्र; प्रथम संस्करण १९९४; मूल्य : रु० - १००.००; आकार : डिमाई; पृ० : ४६+१३९।
५३. शीलदूतम् - (ग्रं०मा०सं० ६९) अनुवादक : साध्वी प्रमोद कुमारी एवं पं० विश्वनाथ पाठक; प्रथम संस्करण १९९३; मूल्य : ३०.००; आकार : डिमाई; पृ० - ४२।

५४. जैनमहापुराण : कलापरक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ७४), लेखिका : डॉ० कुमुदगिरि; प्रथम संस्करण १९९५; मूल्य: रु० २२५.००; आकार: डिमाई; पृ० २९३।
५५. तत्त्वार्थसूत्र और उसकी परम्परा - (ग्रं०मा०सं० ६७), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९४; मूल्य : रु० - ६०.००; आकार: डिमाई, पेपर बैक; पृष्ठ - १४७।
५६. जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति ( भाग १ ) - (ग्रं०मा०सं० ७०), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९४; पृष्ठ : ३२+२६४; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार : डिमाई पेपर बैक।
५७. जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति ( भाग २ ) - (ग्रं०मा०सं० ७८), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ : १७६; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार: डिमाई पेपर बैक।
५८. जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति ( भाग ३ ) - (ग्रं०मा०सं० ८८), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ : ६+२१९; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार : डिमाई।
५९. जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति ( भाग ४ ) - (ग्रं०मा०सं० १२२), लेखक-प्रो० सागरमल जैन, प्रथम संस्करण २००१, पृष्ठ : ६+१७५; मूल्य : रु०-१००.००, आकार : डिमाई।
६०. जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति ( भाग ५ ) - (ग्रं०मा०सं० १३८), लेखक-प्रो० सागरमल जैन, प्रथम संस्करण २००२, पृष्ठ : ६+१९०, मूल्य : रु०-१००.००, आकार : डिमाई।
६१. जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति ( भाग ६ ) - (ग्रं०मा०सं० १३८), लेखक-प्रो० सागरमल जैन, प्रथम संस्करण २००२, पृष्ठ : ६+१९०, मूल्य : रु०-१००.००, आकार : डिमाई।
६२. जैन धर्म-दर्शन एवं संस्कृति ( भाग ७ ) - (ग्रं०मा०सं० १३८), लेखक-प्रो० सागरमल जैन, प्रथम संस्करण २००२, पृष्ठ : ६+१९०, मूल्य : रु०-१००.००, आकार : डिमाई।
६३. महावीर निर्वाण भूमि पावा : एक विमर्श - (ग्रं०मा०सं० ६१), लेखक: भगवती प्रसाद खेतान; प्रथम संस्करण १९९२; पृ० : २३४; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार: डिमाई।

६४. हरिभद्र-साहित्य में समाज एवं संस्कृति - (ग्रं०मा०सं० ७२), लेखिका : डॉ० श्रीमती कमल जैन: प्रथम संस्करण १९९४ पृ० २२५; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार : डिमाई।
६५. गाथासप्तशती - (ग्रं०मा०सं० ७७), अनुवादक : पं० विश्वनाथ पाठक; प्रथम संस्करण; पृ० १६८; मूल्य : रु० - १५०.००; आकार : डिमाई; १९९५।
६६. जैन धर्म में नारी की भूमिका - (ग्रं०मा०सं० ७६), लेखक : प्रो० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९५; पृ० : ४८; आकार : डिमाई; मूल्य : रु० - २०.००।
६७. शृंगारवैराग्यतरंगिणी - (ग्रं०मा०सं० ७३), अनुवादक, मुनि अशोक; प्रथम संस्करण १९९५; पृष्ठ - १५+३४; मूल्य : रु० - २०.००; आकार : डिमाई।
६८. मातृकापद शृंगाररसकलित गाथाकोश - (ग्रं०मा०सं०), अनुवादक : श्री भँवरलाल नाहटा; प्रथम संस्करण १९९४; पृष्ठ - १८+७; मूल्य : रु० - १५.००, आकार : डिमाई।
६९. आचारांग का नीतिशास्त्रीय अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ८०) लेखिका - डॉ० साध्वी प्रियदर्शना श्री; प्रथम संस्करण, १९९५; आकार - डिमाई; पृ० : २९२+१२+८; मूल्य : रु० - २००.००।
७०. बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा - (ग्रं०मा०सं० ८१), लेखक- डॉ० धर्मचन्द जैन; प्रथम संस्करण; पृष्ठ सं. १२+४३९; मूल्य : रु० - ३५०.००; आकार : डिमाई; १९९५।
७१. जैन नीतिशास्त्र : एक तुलनात्मक विवेचन - (ग्रं०मा०सं० ७९), लेखिका - डॉ० प्रतिभा जैन, प्रथम संस्करण; पृष्ठ सं० २३४, मूल्य : रु० - १८०.००; आकार: डिमाई, १९९५।
७२. निर्भयभीमव्यायोग - (ग्रं०मा०सं० ८२) अनुवादक - डॉ० धीरेन्द्र मिश्र; प्रथम संस्करण - १९९६; आकार : डिमाई; पृ० - ६+२०+३३; मूल्य : रु० - ३०.००।
७३. नलविलासनाटकम् - (ग्रं०मा०सं० ८३), अनुवादक : डॉ० धीरेन्द्र मिश्र; प्रथम संस्करण : १९९८; आकार : डिमाई; पृ० - ४१+१९८; मूल्य : रु० - ६०.००।
७४. अनेकान्तवाद और पाश्चात्य व्यावहारिकतावाद - (ग्रं०मा०सं० ८५), लेखक- डॉ० राजेन्द्र कुमार सिंह; प्रथम संस्करण १९९६; आकार - डिमाई पृ० - १५९, मूल्य : रु० - १५०.००।

७५. गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण - (ग्रं०मा०सं० ८७), लेखक - डॉ० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण - १९९६; आकार - डिमाई; पृष्ठ - ६+१३८; मूल्य: रु० - ६०.००।
७६. भारतीय जीवन-मूल्य - (ग्रं०मा०सं० ८९) लेखक - डॉ० सुरेन्द्र वर्मा; प्रथम संस्करण १९९६, आकार - डिमाई; पृष्ठ - ६+२२०; मूल्य : रु० - १५०.००।
७७. पञ्चाशक-प्रकरणम् - (ग्रं०मा०सं० ९२) (I.S.B.N. 81-86715-20-7) अनुवादक- डॉ० दीनानाथ शर्मा; प्रथम संस्करण - १९९७; आकार - डिमाई; पृष्ठ- १०४+३६५; मूल्य : रु० - २५०.००।
७८. सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व - (ग्रं०मा०सं० ९५) लेखक - डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय; प्रथम संस्करण १९९७; आकार - डिमाई, पृष्ठ - १०९; मूल्य: रु० - १००.००।
७९. भारत की जैन गुफाएं - (ग्रं०मा०सं० ९३), लेखक - डॉ० हरिहर सिंह; प्रथम संस्करण १९९७; आकार : डिमाई; पृष्ठ - १००, मूल्य : रु० - १५०.००।
८०. वसुदेवहिण्डी : एक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० ९६), (I.S.B.N. 81-86715-24-X) लेखिका - डॉ० (श्रीमती) कमल जैन; प्रथम संस्करण - १९९७; आकार- डिमाई, पृष्ठ - १२+१६४ = १७६; मूल्य : रु० - १८०.००।
८१. जैनदर्शन में निश्चय और व्यवहार नय : एक अनुशीलन - (ग्रं०मा०सं० ९८), (I.S.B.N. 81-86715-25-8), लेखक - डॉ० रतनचन्द्र जैन; प्रथम संस्करण, १९९७, आकार - डिमाई, पृष्ठ - २६+२५९; मूल्य: रु० - २००.००, पेपर बैक तथा रु० - २५०.०० हार्ड बाउण्ड।
८२. जैन धर्म और तान्त्रिक साधना - (ग्रं०मा०सं० ९४), (I.S.B.N. 81-86715-21-5) लेखक - डॉ० सागरमल जैन; प्रथम संस्करण १९९७; पृष्ठ - ५००; आकार- डिमाई, मूल्य : रु० २५०.०० (अजिल्द) एवं ३५०.०० (सजिल्द)।
८३. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन - (मूल संस्कृतच्छाया, हिन्दी अनु० सहित), (ग्रं०मा०सं० १०१); (I.S.B.N. 81-86715-26-6); अनुवादक डॉ० अशोक कुमार सिंह; प्रथम संस्करण १९९८; पृष्ठ - २३०; आकार - डिमाई, अजिल्द, मूल्य : रु० - १२५.००।
८४. पञ्चाध्यायी में प्रतिपादित जैन दर्शन - (ग्रं०मा०सं० १०८), (I.S.B.N. 81-86715-30-4); लेखिका - डॉ० मनोरमा जैन; प्रथम संस्करण १९९८, पृष्ठ २३४; आकार - डिमाई, मूल्य : रु० - १२५.००।

८५. अष्टकप्रकरणम् - (ग्रं०मा०सं० १०२) (I.S.B.N. 81-86715-42-8); अनुवादक- डॉ० अशोक कुमार सिंह; प्रथम संस्करण - २०००; आकार - डिमाई; पृ० ६+४५+१३८; मूल्य : रु० - २००.००।
८६. जीवसमास - (ग्रं०मा०सं० ९९) (I.S.B.N.81-86715-42-8); अनुवादिका - साध्वी विद्युतप्रभाश्री; प्रथम संस्करण - १९९८; आकार - डिमाई, पृष्ठ - ४१+२४४; मूल्य : रु० - १६०.००।
८७. कौमुदीमित्रानन्दरूपकम् - (ग्रं०मा०सं० १११), (I.S.B.N. 81-86715-34-7); अनुवादक - डॉ० श्यामनन्द मिश्र; आकार : डिमाई; पृ० ६+४२+१९९; मूल्य: रु० - १२५.००।
८८. तीर्थंकर महावीर और उनके दशधर्म - (ग्रं०मा०सं० १२१) (I.S.B.N.81-86715-45-2); लेखक - प्रो० भागचन्द्र जैन भास्कर, प्रथम संस्करण - १९९९, पृ० ९+१३६, मूल्य : ८०.००।
८९. न्याय-रत्नसार - रचयिता - आचार्यप्रवर घासीलाल जी; प्रथम संस्करण - १९८९, आकार : डबल क्राउन; मूल्य : रु० - २००.००।
९०. नानार्थोदयसागर कोष - रचयिता - आचार्यप्रवर घासीलालजी; प्रथम संस्करण- १९८८; आकार : डबल क्राउन; मूल्य : रु० - २००.००।
९१. प्राकृत चिन्तामणि - रचयिता - आचार्यप्रवर घासीलाल जी; प्रथम संस्करण - १९८७, आकार - डबल क्राउन; मूल्य : रु० - १००.००।
९२. प्राकृत कौमुदी - रचयिता - आचार्यप्रवर घासीलालाजी; प्रथम संस्करण - १९८८, आकार : डबल क्राउन; मूल्य : रु० - २००.००।
९३. जिनवाणी के मोती - (ग्रं०मा०सं० १२९) (I.S.B.N. 81-86715-53-3); अनुवादक एवं संग्रहकर्ता - दुलीचन्द्र जैन; द्वितीय संस्करण २०००; पृष्ठ - ३०४, मूल्य : रु० - ४००.००।
९४. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का अवदान - (ग्रं०मा०सं० १२३), (I.S.B.N. 81-86715-47-9); लेखक - डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर; प्रथम संस्करण - १९९९, पृष्ठ - ६+९२; मूल्य : रु० - ८०.००।
९५. वसुनन्दि श्रावकाचार - सम्पादक - डॉ० भागचन्द्र जैन, मूल्य - १५०।
९६. तपागच्छ का इतिहास, ( भाग-१, खण्ड-१ ) - (ग्रं०मा०सं० - १३४, ISBN-81-86715-60-6), लेखक - डॉ० शिवप्रसाद, प्रथम संस्करण २०००, पृ० १०+३२८, आकार - डिमाई; मूल्य - ५००.००।

१७. जैन दर्शन में नवतत्त्व - (ग्रं०मा०सं० १३४, ISBN-81-86715-62-0), लेखिका- साध्वी डॉ० धर्मशीला, प्रथम संस्करण २०००; पृ० - २४+४४४; आकार- डिमाई, मूल्य - ४००.००।
१८. अलंकारदप्पण - (ग्रं०मा०सं० १८, ISBN-81-86715-56-8), अनुवादक - भंवरलाल नाहटा, प्रथम संस्करण २००१; पृ० २४+५६, आकार - डिमाई मूल्य: रु० १२५।
१९. समाधिमरण - (ग्रं०मा०सं० १२४, ISBN-81-86715-48-7), लेखक - डॉ० रज्जन कुमार, प्रथम संस्करण २००१, पृ० १०+२४; आकार डिमाई, मूल्य : २६०.००।
१००. श्रावकधर्म विधि-प्रकरण - (ग्रं०मा०सं० १३२, ISBN-81-86715-58-4) अनुवाद एवं सम्पादन - म० विनयसागर, प्रथम संस्करण २००१; पृ०-५६, आकार- डिमाई; मूल्य : १००.००।
१०१. जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १२८, ISBN-81-86-715-52-5) लेखिका - डॉ० सुधा जैन, प्रथम संस्करण २००१; पृ० १२+३२७; आकार - डिमाई; मूल्य - ३००.००।
१०२. अचलगच्छ का इतिहास - (ग्रं०मा०सं० १३५, ISBN-81-86715-61-4) लेखक - डॉ० शिवप्रसाद, प्रथम संस्करण २००१; पृ० २४+२१२; आकार - डिमाई; मूल्य - २५०.००।
१०३. हिन्दी गद्य के विकास में जैन मनीषी पं० सदासुखदास का योगदान - (ग्रं०मा०सं० १३६, ISBN-81-86715-65-7) लेखिका - डॉ० मुन्नी जैन, प्रथम संस्करण २००१; पृ० ३२+३०८+१८; आकार - डिमाई; मूल्य ३००.००।
१०४. ज्ञाताधर्मकथांग का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १४१, ISBN-81-86715-73-8), लेखिका - डॉ० राजकुमारी कोठारी, प्रथम संस्करण २००३; पृ० १२+१८२; आकार - डिमाई; मूल्य : २००.००।
१०५. जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन - (ग्रं०मा०सं० १४२, ISBN-81-86715-74-6) लेखक - डॉ० विजय कुमार, प्रथम संस्करण २००३, पृ० १२+२३६; आकार - डिमाई, मूल्य : रु० २००.००।
१०६. स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास - (ग्रं०मा०सं० १४०, ISBN-81-86715-72-X) लेखक - डॉ० सागरमल जैन एवं डॉ० विजय कुमार, प्रथम संस्करण २००३, पृ० १४+६०८; आकार - डिमाई; मूल्य : ५००.००।

१०७. षोडशकप्रकरणम् - (ग्रं०मा०सं० १४६, ISBN-81-86715-79-7)  
अनुवादक- डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, प्रथम संस्करण २००४; पृ० २३०;  
आकार - डिमाई, मूल्य - २००.००।
१०८. अहिंसा की प्रासंगिकता - लेखक - प्रो० सागरमल जैन, प्रथम संस्करण;  
२००२, पृष्ठ-६४, आकार - डिमाई, मूल्य - ५०.०० रु०।
१०९. जैनधर्म और पर्यावरण संरक्षण - सम्पा० - डॉ० शिवप्रसाद, प्रथम संस्करण;  
२००३, पृष्ठ - ४+१०४, आकार - डिमाई, मूल्य - ५०.०० रु०।
११०. जैन अध्यात्मवाद - डॉ० श्याम किशोर सिंह, प्रथम संस्करण; २००७, आकार-  
डिमाई, मूल्य- १५०.०० रु०।
१११. सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः अनुवाद- साध्वी रुचिदर्शनाश्रीजी, प्रथम संस्करण,  
२००८, आकार- डिमाई, मूल्य- ३०.०० रु०।
११२. जीवन का उत्कर्षः जैन दर्शन की बारह भानवनाएँ - श्रीचित्रभानु जी, प्रथम  
संस्करण २००८, आकार डिमाई, मूल्य- २००.०० रु०।
११३. करकण्डचरित का सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ० कृष्ण कुमार करण, प्रथम  
संस्करण २००८, आकार- डिमाई, मूल्य-२५०.०० रु०।
११४. जैन दर्शन में धर्म का स्वरूप : डॉ० के० के० सिंह, प्रथम संस्करण, आकार-  
डिमाई, मूल्य-२५०.०० रु०।
115. जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण :  
लेखिका डॉ० श्वेता जैन, प्रथम संस्करण, आकार डिमाई, पृष्ठ - ६००, मूल्य-  
६००.०० रु०।
116. AN EARLY HISTORY OF ORISSA: (S.N. 16) Dr. Amar  
Chand Mittal: 1st Edition: 1962: pp 467+21: Size: Demy: price:  
Rs. 150.00.
117. JAINA TEMPLES OF WESTERN INDIA: (S.N. 26); (I.S.B.N  
8186715-05-3) Dr. Harihar Singh: 1st Edition: 1982: pp.:  
16+278+64; size: Double Demy; Price Rs. 300.00.
118. JAINA PHILOSOPHY - (S.N. 16) Mohan Lal Mehta, Second  
Edition 1998, size Demy, pp. 246. Price - 160.00.
119. JAINA PSYCHOLOGY - Mohan Lal Mehta, Size : Demy, pp.  
16+220. Second Edition - 2002; Price - Rs. 120.00.



- 120. DOCTORAL DISSERTATIONS IN JAINA AND BUDDHIST STUDIES:** (S.N 30): Editors Dr. Sagarmal Jain & Dr. Arun Pratap Singh: 1st Edition: 1983: pp.: 12+100. Size: Demy: Price: Rs. 40.00
- 121. ṚṢIBHĀṢITA : A STUDY -** (S.N. 54) by Dr. Sagarmal Jain, Prakrit Bharati Academy. Jaipur, Royal Size pp. Price Rs. 60.00
- 122. STUDIES IN JAINA PHILOSOPHY:** Dr. Nathmal Tatia, (I.S.B.N 81-86715-12-6) pp. XXXVI+ 328, Hard cloth Bound. Size Demy. Rs. 200.00, Rep. Ed 1985.
- 123. THEORY OF REALITY IN JAINA PHILOSOPHY:** Dr. J. C. Sikdar, (S.N. 58), (I.S.B.N. 81-86715-01-0) Size: Demy: paper back, pages 20+344, 1991, Prize Rs. 300.00
- 124. JAINA EPISTEMOLOGY:** (S.N. 50) (I.S.B.N 81-86715-13-4) Dr. Indra Chandra Shastri, 1st Edition 1990, Paper back, Size: Demy. Pages 15+490, Price Rs. 350.00.
- 125. THE CONCEPT OF PAÑCAŚĪLA IN INDIAN THOUGHT:** (S.N. 27) (I.S.B.N. 81-86715-14-2) Dr. Kamla Jain; 1st Edition: 1983: pp. 14+274: Size: Demy; Rs. 150.00
- 126. DOCTRINE OF KARMAN IN JAINA PHILOSOPHY -** (S.N. 60) (I.S.B.N. 81-86715-00-2) Dr. H.V. Glasenapp. trans. (Germ. to Eng) Mr. G. Barry Giffor, IInd Rep. Ed. pp. 26+284, Size demy. Price Rs. 150.00
- 127. LORD MAHĀVĪRA-** Dr. Bool Chand (S.N. 38) (I.S.B.N. 81-86715-09-6) Ed IInd.1987. pp. 16+ 120: Size Demy: Rs. 80.00.
- 128. JAINISM: THE OLDEST LIVING RELIGION:** (S.N. 44) Dr. Jyoti Prasad Jain. Ed 2nd 1987. Pages 58. Size demy. Price Rs. 40.00.
- 129. THE PATH OF ARHAT- A Religious Democracy -** (No. 63). T.U. Mehta. (I.S.B.N. 81-86715-07-x) Demy, (PB.). Pages XXII+ 236. Ed. Ist 1993. Price Rs. 200.00
- 130. JAINA PERSPECTIVE IN PHILOSOPHY AND RELIGION:** (S.N. 64) Dr. Ramjee Singh. Pages, Size Demy (P.B.) 1993. Price Rs. 200.00

131. **VALUES OF HUMAN LIFES:** *Jagadisha Sahaya: (I.S.B.N. 81-86715-10-x) Demy, pp. VII+108: Rs. 60.00*
132. **ASPECTS OF JAINOLOGY : Vol. 1 -** (*Lala Harajas Rai Commemoration Volume*) Editor Dr. *Sagarmal Jain. Size Crown. Hard cloth Bound. Pages 150, Ed. 1st. 1987. Price Rs. 200.00*
133. **ASPECTS OF JAINOLOGY : Vol. II -** (*Pt. Bechardas Doshi Commemoration Volume*) Editors: *Prof M.A. Dhaky, Prof Sagarmal Jain, (P.V. Series No-102) Size Crown. Hard Cloth Bound. Pages 228+140+120. Ed. 1st-1987. Price Rs. 250.00*
134. **ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. III -** (*Pt. Dalsukh Bhai Malvania Felicitation Volume*) Editors *Prof. Madhusudana Dhaky and Prof. Sagarmal Jain. (P.V. Series No. 103) Size Crown, Hard Cloth Bound. Pages 32+240+206. Ed. 1st 1991 Price Rs. 250.00*
135. **ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. IV - Golden Jubilee Volume.** Editors - *Prof Sagarmal Jain and Dr. A.K. Singh, (P.V. Series No. 104) Size - Crown Hard Cloth Bound. Ed. 1st. 1994. Price Rs. 350.00.*
136. **ASPECTS OF JAINOLOGY: Vol. V -** (*Sri Shvetambara Sthanakavasi Jaina Sabha, Calcutta Diamond Jubilee Seminar Volume*) (*P.V. Series No. 105*) Editors - *Prof. Sagarmal Jain & Dr. Ashok Kumar Singh, Size: Crown, Hard cloth Bound; 164, Ed. 1st 1994, Price Rs. 200.00: pp.*
137. **ASPECTS OF JAINOLOGY VOL. VI -** (*Dr. Sagarmal Jain Felicitation Vol.*). Editors- *Dr. Sudarshanlal Jain, Dr. Dharmchand Jain. (P.V. Series No. 106) Size-Double Demy, Hard cloth bound. pp 996. 1st Edition 1998. Price Rs. 800.00*
138. **ASPECTS OF JAINOLOGY. Vol. VII -** (*Shri B.N. Jain Felicitation Vol.*) *P.V. Series No. 107. First edition 1998. Size : Double Demy. pp. 370. Hard Cloth Bound. Price : Rs. 300.00.*
139. **AN INTRODUCTION TO JAINA SĀDHANĀ -** Prof. *Sagarmal Jain (P.V. Series No. 75) (I.S.B.N. 81-86715-06-1) Size: Demy; pp. 89; Price Rs. 40.00.*

140. **SCIENTIFIC CONTENTS IN PRAKRIT CANONS** - (S.No. 83) (I.S.B.N. 81-86715-11-8) Dr. Nandlal Jain. Demy. pp. 515. 1st Edition, 1995 Price Rs. 400.00
141. **PEARLS OF JAIN WISDOM** : (P.V. S.No. 86) (I.S.B.N. - 81-86715-18-5) Compiled by Shri Dulichand Jain, Edited by Dr. S. M. Jain & Dr. S. P Pandey, Size-Demy First Edition 1997, Price-Rs. 120.00
142. **MAHĀVĪRA** - by Amar Chand. II Ed., 1997, Size- Demy. pp-18. Price Rs. 10.00.
143. **THE HERITAGE OF THE LAST ARHAT MAHĀVĪRA** : by- Charlotte Krause, II Edition, 1997, Size- Demy, Paper Back. pp-30, Price Rs. 25.00.
144. **NAVATATTVAPRAKARAṆA** - S.No. English tarns. by Dr. Shriprakash Pandey, 1st Edition 1998, pp-40, Price- Rs. 40.00
145. **STUDIES IN JAINA ART** - (P.V. Series No. - 114 ISBN-81-86715-38-X), Author- Dr. U.P. Shah, Second Edition- 1998, Size- Double Crown, pp. 14+166+38, Rs. 300.00
146. **BIOLOGY IN JAINA TREATISE ON REALS** - (P.V. Series No. ISBN-81-86715-44-4). Author- Dr. N.L. Jain, First Edition- 1999. Size: Demy. pp. 204, Rs. 150.00
147. **JAINA LITERATURE AND PHILOSOPHY: A Critical Apporach** (P.V. Series No. - 106, ISBN- 81-86715-28-2) Author- Prof. Sagarmal Jain, First Edition-1999; Pages- 118: Size- Double Demy, Page- 41 + 118. Price Rs. 200.00
148. **DR. CHARLLOTE KRAUSE: HER LIFE AND LITERATURE Vol. I** - (P.V. Series No. 119: ISBN-1-86715-43-6) Editor Shriparakash Pandey, First Edition 1999. PP 664. Price- 500. \$ 40-00 (H.B.)
149. **APARIGRAHA : THE HUMANE SOLUTION** - (P.V. Series No. 110 - ISBN-81-86715-32-0), Author- Dr. Kamala Jain, First Edition 1998, pp. 104. Price Rs. 120.00 (PB)

150. **JAINISM IN A GLOBAL PERSPECTIVE** - (P.V. Series No - 113 pp. 383 Price- 400.00. \$ 19.00 (H.B.)
151. **JAINA KARMOLOGY** - (P.V. Series No. 109 - ISBN-81-86715-31-2), Author-Dr N. L. Jain. First Edition-1998. Size-Demy. PP 180. Price. 100. 00 (HB.)
152. **JAINISM IN INDIA** : Editor - Ganesh Lalwani, First Edition 1997. p.p 129; Price - Rs. 100.00 (PB.)
153. **MULTI-DIMENSIONAL APPLICATION OF ANEKĀNTA-VĀDA** - Edited by Dr. S.M. Jain & Dr. S.P. Panday, First Edition 1999. pp. 533 Price Rs. 500.00, \$ 20.00 (HB.)
154. **THE WORLD OF NON-LIVING** - (PV Series No. 131 - ISBN-81-86715-57-6) Dr. N.L. Jain; 1st Edition 2000: pp. 310, Price Rs. 400.00 : \$ 36.00.
155. **PRISTINE JAINISM** - (P.V. Series No. 143, ISBN-81-86715-75-4), 1st Edition - 2003, Size Demy, Price - Rs. 150.00.
156. **I AM MAHĀVĪRA** - (P.V. Series No. 138, ISBN-8186715-67-3) Author - Dr. N.L. Jain, 1st Edition, 2002, pp. 8+72, Size Demy, Price- 25.00 \$ 1.00, 0.70 Sterling Pound.
157. **PEACE, RELIGIOUS HARMONY AND SOLUTION OF WORLD PROBLEMS FROM JAINA PERSPECTIVE** - Writer- Prof. Sagarmal Jain, First Edition, 2002, pp. 64, Size : Demy, Price Rs. 50.00
158. **JAIN PHILOSOPHY OF LANGUAGE** - Author - Prof. Sagarmal Jain, First Edition, 2002, pp. 160, Size : Demy, Price Rs. 200.00
159. **JAINA CULTURE** - Author - Mohan Lal Mehta. Size, Demy Second editions. 2002, pp. +10+152; Price : Rs. 80.00.
160. **NANDANAVANA**- Author- Dr. N. L. Jain, size-Demy, First Edition-2005, Price Rs. 500.00
161. **KṢĀYAPĀHUḌA** (Chapters on Passion) an English translation by Dr. N. L. Jain, size-Demy, First Edition-2006, Price Rs. 300.00

162. **ADVANCED GLOSSARY OF JAINA TERMS-** by Dr. N.L. Jain, First Edition 2006, Size Demy-Price Rs. 300.00
163. **MADHYAKALĪNA HINDI SĀHITYA PARA JAINA DARŚANA KĀ PRABHĀVA-**by Dr. V. Ramesh Gadia, First Edition 2007, Size Demy-Price Rs. 500.00
164. **JAINA DHARMA KĪ VAIJÑĀNIKA ĀDHĀRAŚILĀ** by Dr. K. V. Mardia, First Edition 2004, Size Demy-Price Rs. 250.00
165. **PRĀKṚTA DĪPIKĀ-** by Dr. Sudarshanlal Jain, First Edition 2006, Size Demy-Price Rs. 200.00
166. **UNIVERSAL MESSAGE OF LORD MAHĀVĪRA-**by Shri Dulichand Jain, First Edition 2006, Size Demy-Price Rs. 250.00
167. **JAINA PSYCHOLOGY-**by Dr. Mohanlal Mehta, II Edition 2002, Size Demy. Price Rs. 120.00
168. **JAINA RELIGION:ITS HISTORICAL JOURNEY OF EVOLUTION:** Author - Dr. S.M. Jain, Eng. Trans. by Dr. Kamla Jain, Ist Edition, 2007, pp. 124, Price Rs. 100.00
169. **JAINS TODAY IN THE WORLD -** Pierre Paul AMIEL, First Edition, Size Demy, Price- Rs. 500.00

### आगामी प्रकाशन

१. कर्मग्रन्थ, भाग १-६, पं० सुखलाल संघवी
२. हिन्दी जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग- ५, खण्ड- १, डॉ० सुधा जैन
३. जैन एवं हिन्दू स्त्रोतों में त्रौपदी कथानक, डॉ० शीला सिंह
४. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, डॉ० अशोक कुमार सिंह



पुस्तक मँगवाने हेतु हमारा पता :

निदेशक

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई०टी०आई० रोड, करौंदी, वाराणसी-२२१००५ (उ०प्र०)

ईमेल : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com

pvri@sify.com

श्रीमद्धानेश्वरसूरिविरचितं  
**सुरसुंदरीचरिअं**  
(षष्ठ परिच्छेद)

पू० गणिवर्य श्री विश्रुतयशाविजयजीवृत्त  
संस्कृत छाया, गुजराती और हिन्दी  
अनुवाद सहित  
परामर्शदात्री  
प०पू० साध्वीवर्या रत्नचूलाजी म०सा०

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी  
२००६



## षष्ठ परिच्छेद की भूमिका

श्रमण के सुधी पाठकों! 'सुरसुन्दरीचरिणं' नामक सुन्दर कथाकाव्य जिसे हम धारावाहिक रूप में प्रकाशित कर रहे हैं, के पूर्व के पांच अध्यायों के प्रारम्भ में सारांश (परिचय) हमने अंग्रेजी में दिया था किन्तु पाठकों की मांग को तथा यह दृष्टिगत रखते हुए कि टेक्स्ट हिन्दी में जा रहा है, प्रारम्भ का परिचय भी हिन्दी में जाना चाहिए, इस छठे अध्याय का सारांश हम हिन्दी में दे रहे हैं - सम्पादक

गतांक से आगे ...

पंचम अध्याय में हमने देखा कि चित्रगति, चित्रवेग से कनकमाला को पाने का उपाय बतलाते हुए कहता है कि दक्षिण क्षेत्र के विद्याधरों में प्रचलन है कि जिस लड़की का विवाह होने वाला होता है वह पहले एकान्त में कामदेव की पूजा करती है, पुनः उसका विवाह होता है। इसलिए वह निश्चय ही कामदेव मन्दिर में आयेगी। जब वह मन्दिर में आयेगी तो तुम कनकमाला को बाहर निकाल देना और मैं उसकी जगह उसके वेश में चला जाऊँगा। उसके बाद मैं तुमसे मिल लूँगा। चित्रवेग प्रस्ताव मान लेता है। यहाँ से आगे षष्ठ अध्याय प्रारम्भ होता है।

हम दोनों कामदेव के मन्दिर गये और मनोवांछित फल की प्राप्ति हेतु प्रार्थना की। हम दोनों मन्दिर के पीछे छुप गए। तभी सुन्दर कनकमाला सखियों के साथ पालकी में चढ़कर मन्दिर में आई। उसने पूजा की सामग्री के साथ अकेले ही मंदिर में प्रवेश कर द्वार अंदर से बंद कर लिया और कामदेव से प्रार्थना करने लगी कि मुझे मेरे प्राणप्रिय से छुड़ाकर दूसरे के साथ क्यों जोड़ रहे हो। मैं अभी आपकी शरण में अपने प्राणों का त्याग करती हूँ। मैं जानती हूँ ऐसा मेरे पुण्य कर्मों के फल से हुआ है। मुझे लगता है कि नभोवाहन के किसी भक्त विद्याधर से मैं भ्रमित की गयी हूँ, ऐसा कहकर वह स्वयं को पाश में बाँधने लगी। मैंने तुरन्त उसके पास जाकर उसका पाश तोड़ दिया। और कहा कि हे सुंदरी! इन्द्र को पराजित करने वाला कामदेव तुम पर प्रसन्न हुआ है और तुम्हारे अनन्य साहस के कारण इसी जन्म में तुझे उस पुरुष से मिला दिया है। कनकमाला शरमा गयी। तभी चित्रगति भी उस स्थान पर आ गया। मैंने कनकमाला से उसका परिचय कराया और बताया कि आत्मवध के लिए उद्यत मुझे इसी धीर पुरुष ने बचाया है तथा हमारे मिलन का रास्ता भी इसी ने दिखाया है। तुम तुरन्त अपने वस्त्राभूषण वगैरह इसे दे दो ताकि यह तुम्हारा रूप धारण कर



बाहर जा सके। ऐसा करने पर चित्रगति कनकमाला के सभी वस्त्राभूषण पहनकर शिविका में आरूढ़ हो गया और मैं मन्दिर में कामदेव को साक्षी मानकर उस बाला से गान्धर्व विवाह कर आलिंगन बद्ध होकर सो गया। उठने पर नभोवाहन के कारण हो सकने वाली जुदाई को सोचकर वह विलाप करने लगी। मैंने उसे समझाया कि जो भी होना है होने दो। अभी हम रत्नसंचय नगरी चलते हैं। ऐसा कहकर हम दोनों ने गगन मार्ग के द्वारा रत्नसंचय नगरी के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में कनकमाला को प्यास लगने पर हम दोनों निकुंजवन में गए जहाँ शीतल जलवाला एक झरना था। वहाँ हम विश्राम कर ही रहे थे कि कदली वृक्ष के पीछे से चित्रगति एक युवती के संग निकला। फिर मैंने चित्रगति से शिविका में बैठने के बाद का दृष्टान्त और यह सुन्दर युवती तुम्हें कहाँ से प्राप्त हुई, इसका कारण जानना चाहा। चित्रगति ने कहा, हे! चित्रवेग कनकमाला का रूप धारण कर मैं नभोवाहन के पास पहुँचा और उससे मेरा विवाह सम्पन्न हुआ। तभी एक युवती आकर मुझे मुद्रारत्न सहित अपनी हथेली दिखाई। यह मुद्रिका मेरी थी जो उस समय हाथी के भय से मुक्त की हुई कन्या से मैंने ग्रहण की थी। तब मैंने उसके द्वारा पूर्व में समर्पित मुद्रायुक्त हाथ उस बाला को दिखाया। वह पहचान गयी और बहाने से मुझे अशोक वाटिका में ले गयी और हमने उसे सारा वृत्तान्त कह दिया। फिर मैंने उससे उसका परिचय पूछते हुए कहा कि तूने मुझे स्त्री रूप धारण करने पर भी कैसे पहचान लिया।

उसने बताया कि सुरनन्दन नामक एक नगर है। उस नगर में विद्याधरों का प्रभंजन नामक राजा राज्य करता है। उसका अत्यन्त कुशल मेघनाद नाम का एक मन्त्री है। श्रेष्ठ रूप वाली उसकी पत्नी का नाम इन्दुमती है। इसी पत्नी से उसे अशनिवेग नामक रूपवान पुत्र उत्पन्न हुआ। वह युवावस्था को प्राप्त हुआ। इधर दक्षिण श्रेणि में स्थित कुंजरावर्तनगर में चन्द्रगति नाम का एक श्रेष्ठ विद्याधर है। उसकी पत्नी मदनरेखा से उसे कालक्रम में अमितगति नाम का पुत्र तथा चम्पकमाला नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। इस चम्पकमाला का विवाह सुरनन्दन नगर के मन्त्रीपुत्र अशनिवेग के साथ आदरपूर्वक हुआ। कुछ समय सुखपूर्वक व्यतीत होने पर मेघनाद ने अपने पुत्र आशनिवेग को मन्त्री पद देकर प्रभंजन राजा के साथ सद्गुरु के चरण में दीक्षा ले ली। पुनः चम्पकमाला के वज्रगति, वायुगति, चन्द्र, चन्दन और सुखीश नामक पांच पुत्रों के पश्चात् मैं प्रियंगुमंजरी पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। युवा होने पर मुझसे विवाह करने बहुत सारे विद्याधर आने लगे। किन्तु स्वभाव से पुरुषद्वेषिणी मैंने सभी को लौटा दिया। इससे मेरे पिता एवं माता शोकग्रस्त रहने लगे। माता-पिता के शोक ग्रस्त होने के कारण मैं भी उदास रहने लगी। एक दिन सूर्यप्रभ की पुत्री मेरी प्रिय सखी धारिणी मेरे पास आई उसने मुझसे मेरे उदासी का कारण पूछा। मैंने उसे बताया कि

उस दिन जब तुम्हारे साथ विविध प्रकार की क्रीड़ा कर घर लौटी तो महल की छत पर स्थित पलंग पर सो गयी। अर्द्धरात्रि बीतने पर दुंदुभि की ध्वनि को सुनकर जाग्रत हुई मैंने गगन मार्ग पर दिव्य विमानों में विचरण करते हुए देव-देवियों को देखा। तभी मुझे मूर्च्छा आ गयी और मूर्च्छा दूर होने पर मुझे दो भवों का जातिस्मरण ज्ञान हुआ। तू ध्यान से सुन।

जम्बूद्वीप के मेरुगिरि के उत्तर में श्रेष्ठ ऐरावत नाम का क्षेत्र है। उसके मध्यखण्ड के आर्य क्षेत्र में सुप्रतिष्ठ नामक एक नगर था जिसमें हरदत्त नामक एक श्रेष्ठ अपनी विनयवती नामक पत्नी के साथ रहता था। उसका श्रेष्ठ वसुदत्त नामक एक पुत्र था। इसके अतिरिक्त विनयवती को तीन रूपवती सुलोचना, अनंगवती तथा वसुमती नाम की पुत्रियां भी थीं। सुलोचना का विवाह मेखलावती पुरी के सागरदत्त के पुत्र सुबन्ध नामक वणिक पुत्र से हुआ। अनंगवती, विजयवती नगरी के धनभूति सार्थवाह के पुत्र धनवाहन के साथ व्याही गयी तथा वसुमती का विवाह मेखलावती नगरी के समुद्रदत्त के पुत्र धनपति के साथ हुआ।

एक दिन धनपति वणिक अपनी पत्नी वसुमति के साथ महल की छत पर सोया था। वसुमति निद्राक्षय होने के कारण रात्रि के पिछले प्रहर में जाग गयी। अपनी शय्या में पर पुरुष को सोए हुए देख वह डर कर कांपने लगी। सोचने लगी यह पुरुष कैसे यहाँ आया। इसने मेरे पति को मार डाला या मुझे भ्रम के कारण मेरा पति मुझे मेरा पति नहीं लग रहा है? मुझे तुरन्त अपनी सासू माँ से यथास्थिति का ज्ञान करना चाहिए। वह अपनी सुदर्शना सासू के पास आई और उनसे सारी बात बता दी। सुदर्शना ने कहा कि यह तुम्हारा भ्रम प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ अन्य पुरुष का आना सम्भव नहीं है। किन्तु वसुमति के आग्रह पर जब वह ऊपर जा कर देखी तो उसे स्पष्ट हुआ कि वह उसका पुत्र नहीं है और उसने उसे चोर समझकर पकड़ने के लिए जोर-जोर से चिल्लाना शुरू कर दिया। समुद्रगुप्त शय्या में से उठा और कहने लगा हे! माता किसने चोरी की है? सुदर्शना ने उसे अपने को माता कहने पर आपत्ति की और पूछा कि तुमने हमारे पुत्र धनपति को कहाँ छुपा दिया है। माँ के निष्ठुर वचन सुन विस्मित हुआ वह आकाश की तरफ देखता हुआ बार-बार अपना शरीर देखकर कुछ बड़बड़ाने लगा। इतने में और भी लोग आ गए। तभी बाजुबंध, हार, कड़ा आदि आभूषणों से शोभित, सुंदर शरीर वाला देदीप्यमान एक देव प्रकट हुआ। उस देव ने बताया कि यह बहुत सारी विद्याओं को सिद्ध करने वाला पापी सुमंगल नामक विद्याधर है। वह यौवन से मदोन्मत हो एक बार इस नगरी में आया। उधर वसुमति तुरन्त ही छत पर स्नान करके आयी थी और इसने उसे देख लिया।

इसने धनपति का रूप ग्रहण कर लिया तथा वास्तविक स्वरूप को न जानने वाली वसुमति का सेवन किया तथा उसके पति धनपति का अपहरण कर विनीता नगरी में छोड़ दिया। उधर धनपति सोचता है कि इस नगरी में मैं कैसे आ गया। ऐसा सोचते हुए वह नगर के बाहर उद्यान में आया जहाँ ऋषभदेव प्रभु की वंश परम्परा के राजर्षि दण्डवीर्य केवली भगवंत उपस्थित थे। वह तीन बार उनकी प्रदक्षिणा कर उन्हें प्रणाम कर उचित स्थान पर बैठा और अवसर मिलने पर उसने पूछा कि उसका किसने अपहरण किया और क्यों? तथा यह कौन-सी नगरी है। तब केवली भगवंत ने उसे बताया कि तेरे कर्मों के कारण ही ऐसा हुआ है। अतः तू परमात्मा की आज्ञा से कर्मनाश का उद्यम कर। ऐसा सुनकर वह केवली भगवंत से दीक्षित हो तीस लाख पूर्व तक उग्र तपयुक्त चरित्र का पालन कर चन्द्रार्जुन नाम के विमान में चन्द्रार्जुन नाम का देव बना। बाद में अवधिज्ञान से सम्पूर्ण चरित्र को जानकर मैं यहाँ इस नगरी में आया हूँ। वसुमति के साथ इसने जो कुकृत्य किया इससे हमने इसकी बाकी विधाएं हर लीं। इस कारण यह अपने मूल स्वरूप में आ गया और विधाएं हर ली जाने के कारण आकाश में नहीं उड़ पाया। अतः हे सखी धारिणी! इस प्रकार देव के कहने पर श्रेष्ठी समुद्रदत्त, उनकी पत्नी सुदर्शना भी उस देव को पकड़कर पुत्र वियोग के दुःख से रोने लगीं। नगर की स्त्रियाँ पुरुष सभी सुमंगल को कोसने लगे। विलाप करती हुई वसुमति से उसने कहा - हे भद्रे! अभी तुम क्या चाहती हो। तब लज्जामुख वाली वसुमति ने कहा हे स्वामिन्! आप जैसा आदेश करें।

यहां षष्ठ अध्याय समाप्त हो जाता है।



श्रीमद्धनेश्वरसूरिविरचितं

## सुरसुंदरीचरिअं

षष्ठ परिच्छेओ

गाहा :- सूर्यास्त

इत्थंतरम्मि सूरु भमिऊणं गयण-मंडलमसेसं।

अवर-समुद्दं पत्तो पह-खिन्नो मज्जणत्थं व ॥१॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे सूरु भ्रान्त्वा गगनमण्डल-मशेषम्।

अपरसमुद्रं प्राप्तः पथखिन्नो मज्जनार्थमिव ॥१॥

गुजराती अर्थ :- एटलीवारमां सूर्यं सत्पूर्णं गगनमण्डलमां भमीने थाकी गयेलो होय तेम स्नान माटे पश्चिम समुद्र ने प्राप्त थयो (अस्त पाय्यो)

हिन्दी अनुवाद :- इतनी देर में सूर्य सम्पूर्ण गगनमण्डल में घूमने से थका हुआ मानो पश्चिम समुद्र में स्नान करने के लिए गया।

गाहा :-

भणियं च चित्तगइणा अन्नाया एव एत्थ पविसामो।

मयणस्स गिहे संपइ पत्थुअ-अत्थस्स हेउम्मि ॥२॥

संस्कृत छाया :-

भणितं च चित्रगतिना अज्ञातैवात्र प्रविशावः।

मदनस्यगृहे सम्प्रति प्रस्तुतार्थस्य हेतौ ॥२॥

गुजराती अर्थ :- अने चित्रगतिए कहयुं अहीं आपणे बझे अजाण्या छीए, हवे आपणे प्रस्तुत कार्य माटे कामदेव ना घरमां जइए।

हिन्दी अनुवाद :- और (उस वक्त) चित्रगति ने कहा - हम दोनों इस क्षेत्र से अज्ञात हैं, अतः हम प्रस्तुत कार्य के लिए कामदेव के घर चलें!

गाहा :-

तत्तो य मए भणियं एवं होउत्ति उट्टिया दोवि ।

उच्चिणिय कइवयाइं पुप्फाइं तत्थ उज्जाणे ॥३॥

पबिसिय मयणस्स गिहे पूइय मयणं च एवमुल्लवियं।

भयवं! तुह प्पसाया संपज्जओउ इच्छियं अम्ह ॥४॥ युग्मम्।

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया भणितमेवं भवत्विति उत्थितौ द्वावपि ।

उच्चित्य कतिपयानि पुष्पाणि तत्रोद्याने ॥३॥

प्रविश्य मदनस्य गृहे पूजयित्वा मदनञ्चैवमुल्लपितम् ।

भगवन् ! तव प्रसादात् संपद्यतामिच्छितमस्माकम् ॥४॥युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- व्यारे मे कहयुं “हा आ प्रमाणे थाओ, अने अमे बझे उभा थया अने ते उद्यान मां केटलाक फूलों ने चूटी ने ---

मदननां मंदिर मां प्रवेशीने कामदेव नी पूजा कर्या पछी आ प्रमाणे कहयुं, हे भगवान् ! आपना प्रसाद थी अमारु इच्छित पूर्ण थाओ।”

हिन्दी अनुवाद :- तब मैंने कहा - हाँ! ऐसा ही हो, ऐसा कहकर हम दोनों खड़े हुए और उद्यान से कितने ही पुष्प चुन के मदन-मंदिर में आकर कामदेव की पूजा करके इस प्रकार कहा कि हे भगवन्! आपकी कृपा से हमारा मनोवाञ्छित पूर्ण हो!

गाथा :- कनकमालानुं कामदेव मंदिरमां आगमन

एवं भणिरुण तओ दोवि निलुक्का अणंग-पड्डीए ।

रयणीए जाममित्ते वोलीणे किंचि-अहियम्मि ॥५॥

बहु-परियण-परियरिया गिज्जंता पवर-मंगल-सएहिं ।

वज्जंतेण य विविहं नाणाविह-तूर-निवहेण ॥६॥

निय-सहि-यणेण सहिया आरूढा उत्तिमाए सिवियाए ।

कय-मंगलोवयारा सिय-भूसण-भूसिय-सरीरा ॥७॥

सिय-वसण-पाउयंगी आबद्ध-सुगंध-कुसुम-आमेला ।

पत्ता ओ कणगमाला दारे अह काम-गेहस्स ॥८॥

संस्कृत छाया :-

एवं भणित्वा ततो द्वावपि निलीनावनङ्गपृष्ठे ।

रजन्यां याममात्रे गते किञ्चिदधिके ॥५॥

बहुपरिजन-परिवृता गीयमाना प्रवरमङ्गल शतैः ।

वाद्यमानेन च विविधं नानाविध-तूर्य-निवहेन ॥६॥

निजसखीजनेन सहिता आरूढोत्तमायां शिबिकायाम् ।

कृतमङ्गलोपचारा श्वेतभूषण-भूषितशरीरा ॥७॥

श्वेतवसन-प्रावृताङ्गी आबद्ध-सुगन्धकुसुमाऽऽपीडा ।

प्राप्ता तु कनकमाला द्वारेऽथ कामगृहस्य ॥८॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे प्रार्थना करीने पछी बझे कामदेव ना मंदिर नी पाछल छुपाई गया, एक प्रहर थी कंडक अधिक रात्रि नो समय व्यतीत

थयो एटले, घणा दासीजन थी परिवरेली सैकड़ो श्रेष्ठ मंगलो वड़े गवाती, विविध प्रकारे वागता बाजींत्र ना समुदाय नी साथे, पोताना सखीजनो सहित उत्तम शिबिका मां आरूढ थयेली, आच्छादित मांगलिक उपचारवाली, श्वेत आभूषणों थी अलंकृत देहवाली, श्वेतवस्त्रो वड़े आच्छादित शरीरवाली, सुगंधित पुष्पो थी बांधेला अंबोडावाली, कनकमाला मदनगृह ना द्वार पासे आवी।

**हिन्दी अनुवाद :-** इस प्रकार प्रार्थना करने के बाद हम दोनों कामदेव के मंदिर के पीछे छुप गये, एक प्रहर से अधिक रात्रि का समय व्यतीत होने पर बहुत दासीजन से युक्त, सैकड़ों श्रेष्ठ मंगल शब्दों द्वारा गाये गये, अनेक प्रकार के बजते बाजिंत्र के समुदाय के साथ अपने सखीजनों से आवृत्त, श्रेष्ठ शिविका में बैठी हुई, मांगलिक उपचारवाली, श्वेत आभूषण से अलंकृत देहवाली, श्वेत वस्त्रों द्वारा ढंके देहवाली, सुगंधित पुष्पों से की हुई वेणीवाली (सुशोभित), कनकमाला मदनमंदिर के द्वार के पास आई!

**गाहा :-**

उत्तिन्ना सिवियाओ पूयण-उवगरणयं गहेऊणं ।

धरिऊण दार-देसे सयलं निय-परियणं ताहे ॥९॥

एगागिणी पविट्टा मयरद्धय-बिंब-पूयण-निमित्तं ।

पविसिन्तु भवण-दारं अग्गलियं ताए बालाए ॥१०॥ युग्मम् ॥

**संस्कृत छाया :-**

उत्तीर्णा शिबिकातः पूजनोपकरणकं गृहीत्वाः ।

धृत्वा द्वारदेशे सकलं निज-परिजनं तदा ॥९॥

एकाकिनी प्रविष्टा मकरध्वज-बिम्ब-पूजन-निमित्तम् ।

प्रविश्य भवनद्वार-मर्गलितं तया बालया ॥१०॥ युग्मम् ॥

**गुजराती अर्थ :-** शिबिकामांथी उतरेली पूजानी सामग्रीने ग्रहण करीने पोताना संपूर्ण दासीजनने दरवाजा पासे उभा राखीने कामदेवना बिम्ब नी पूजा माटे एकलीए प्रवेश कर्यो। अने प्रवेश करीने ते बालाए भवन ना द्वार बंध करी दीधा।

**हिन्दी अनुवाद :-** शिविका से उतरी हुई और पूजा की सामग्री को लेकर, अपने संपूर्ण दासीजन को द्वार के पास खड़ी करके कामदेव की पूजा के लिए अकेली ही मंदिर में गई तथा मंदिर में जाकर कनकमाला ने मंदिर के द्वार अंदर से बंद कर दिया!

**गाहा :-**

संपूइऊण कामं अह सा निवडेवि तस्स चलणेसु ।

दीहं नीससिऊणं गलंत-थूलंसु-नयणिल्ला ॥११॥

लहु-सहेणं एयं सोवालंभं सगग्गरं भणइ ।  
निज्जिय-सुर-मणुओवि हु पहरसि इत्थीण किं भयवं!।।१२।।

संस्कृत छाया :-

संपूज्य काममथ सा निपत्यापि तस्य चरणयोः ।

दीर्घं निःश्वस्य गलत्-स्थूलाश्रुनयनवती ।।११।।

लघु-शब्देन एवं सोपालम्भं सगद्गद् भणति ।

निर्जित-सुर-मनुजोऽपि खलु प्रहरसि स्त्रीणां किं भगवन् ?।।१२।।युग्मम्।।

गुजराती अर्थ :- हवे कामदेवनी सारी रीते पूजा करीने, कामदेवनां चरणमां प्रणाम करीने बहु उंडा निःश्वास नाखीने, झरता मोटा मोटा आंसुओ थी भरेली आंखवाली, मंदमंद शब्द थी गद्गद् कण्ठे ठपका पूर्वक ते बाला बोलवा लागी, हे भगवन्! सुट तथा मनुष्योने जीत्या पछी पण तुं स्त्री-जातिने शा माटे मारे छे?

हिन्दी अनुवाद :- फिर कामदेव की सुंदर भक्ति कर, चरणों में प्रणाम करके बहुत लम्बे निःश्वास डाल कर झरते हुए बड़े-बड़े अश्रुओं से भरी हुई आंखवाली, मंदमंद शब्द द्वारा गद्गद् होकर उपालम्भ युक्त वचन बोलने लगी, हे भगवन्! आप देव एवं मनुष्यों को जीतने पर भी स्त्री जाति को क्यों मारते हो?

गाहा :-

जइ मज्झ तम्मि लोए भयवं! गरुओ कओ हु अणुराओ ।

ता कीस तं पमोत्तुं घडसि ममं अन्न-लोएणं?।।१३।।

संस्कृत छाया :-

यदि मे तस्मिल्लोके भगवन्! गुरुकः कृतः खल्वनुरागः ।

तर्हि कस्मात् तं प्रमुच्य घटयसि मां अन्य-लोकेन?।।१३।।

गुजराती अर्थ :- हे भगवन्! जो तारावडे ते प्राणप्रियने विषे मने अतिशय अनुराग करायो छे तो तेने छोडी ने अन्य पुरुष साथे मने केम जोडे छे ?

हिन्दी अनुवाद :- हे भगवन्! यदि आपने उस प्राणप्रिय के प्रति मुझे अतिशय अनुराग कराया है तो फिर उससे छुड़ाकर अन्य पुरुष के साथ मुझे क्यों जोड़ रहे हो?

गाहा :- अन्नं च

सुम्मति इत्थ लोए पंचेव सिलीमुहाओ किल तुज्झ ।

नवरं ममं पडुच्चा सहस्स-बाणोव्व तं जाओ।।१४।।

संस्कृत छाया :-

श्रूयते अन्न लोके पञ्चैव शिलीमुखाः किल तव ।

नवरं मां प्रतीत्य सहस्रबाण इव त्वं जातः।।१४।।

गुजराती अर्थ :- आ लोकमां संभळाय छे के आपने पांच बाण होय छे परंतु मारु माटे तो तुं हजारो बाण जेवो थयो होय तेवूँ लागे छे।

हिन्दी अनुवाद :- इस लोक में सुनाई देता है कि आप पांच बाण वाले होते हैं, किन्तु मेरे लिए तो आप हजार (बाणों) वाले लगते हो।

गाहा :-

जइ ताव मज्झ पहरसि पहरसु को तं निवारइ भयवं!।

नवरं तह मह पहरसु कयंत-भवणे जह वयामि।।१५।।

संस्कृत छाया :-

यदि तावद् मे प्रहरसि प्रहर कस्त्वां निवारयति भगवन्।

नवरं तथा मम प्रहर कृतान्त-भवने यथा व्रजामि।।१५।।

गुजराती अर्थ :- हे भगवन् ! जो तमारे मने प्रहार करवो ज होय तो सुखेथी प्रहार करो तमने कोण रोकी शके? परंतु मने ते रीते प्रहार करो के जेथी हुं यमलोकमां पहुँचुं।

हिन्दी अनुवाद :- हे भगवन् यदि आपको मुझ पर प्रहार करना है तो कीजिए! आपको कौन रोक सकता है, किन्तु इस तरह प्रहार कीजिए कि मैं सीधे ही यमराज को भेंट हो जाऊँ।

गाहा :-

तुमए पुण तह पहया जह न मया नेय जीविया अहयं।

ता किं भणामि इण्हं सरणम्मि समागया तुज्झ?।।१६।।

संस्कृत छाया :-

त्वया पुनस्तथा प्रहता यथा न मृता नैव जीविताहकम्।

ततः किं भणामि इदानीं शरणे(णं) समागता तव।।१६।।

गुजराती अर्थ :- वली, आपे मने छ रीते मारी के जे कारणथी हुं मरी पण नही अने जीवती पण नथी, आथी विशेष शुं कहुं? हवे तो हुं तमारु शरणे आवी छुं।

हिन्दी अनुवाद :- किन्तु आपने तो मुझ पर इस प्रकार का प्रहार किया कि मेरी मृत्यु भी नहीं हुई और न मैं जी रही हूँ, इससे विशेष क्या कहूँ, फिलहाल तो मैं आपके शरण में आई हूँ।

गाहा :-

दड्डुस्स हुयवहेणं सो चेव जहोसहं तु लोयस्स ।

तुमए पीडिय-देहा तह सरणं तुज्झ अल्लीणा।।१७।।



संस्कृत छाया :-

दग्धस्य हुतवहेन स चैव यथा औषधं तु लोकस्य ।

त्वया पीडित-देहा तथा शरणं तवाऽऽलीना ॥१७॥

गुजराती अर्थ :- अग्नि वड़े दाझेला लोकोनु अग्नि ज औषध छे तेम तमाराथी पीडित देहवाली हुं तमारा शरणे ज लीन थई छुं।

हिन्दी अनुवाद :- अग्नि में दग्ध लोगों को अग्नि ही औषधि है, इसी तरह आपसे पीड़ित देहवाली मैं आपकी ही शरण में लीन हूँ।

गाहा :-

जइ मज्झ तुमं तुड्डो देहि वरं पत्थिओ मए एयं ।

मा मह हविज्ज एरिस-विडम्बणा अन्न-जम्मेवि ॥१८॥

संस्कृत छाया :-

यदि मम त्वं तुष्टो देहि वरं प्रार्थितो मया एनम् ।

मा मम भवतु ईदृश-विडम्बनाऽन्य-जन्मन्यपि ॥१८॥

गुजराती अर्थ :- जो तूं मारा उपर प्रसन्न छे तो मारावड़े प्रार्थना करायेल तूं आ वरने आप अने आवी विडम्बना अन्य जन्म मां पण मने ना थाओ!

हिन्दी अनुवाद :- यदि तू मुझ पर प्रसन्न है, तो तू मुझे मेरा मनोवांछित यह पतिदेव दे, और ऐसी विडम्बना मेरे साथ अन्य जन्म में भी न हो।

गाहा :-

ताव इमो मह जम्मो पिय-जण-आसाए वोलिओ अहलो ।

तं चिय दइयं दिज्जसु भयवं! मह अन्न-जम्मेवि ॥१९॥

संस्कृत छाया :-

तावदिदं मम जन्म प्रियजन-आशया गतमफलम् ।

तमेव दयितं ददस्व भगवन्! मह्यमन्य-जन्मन्यपि ॥१९॥

गुजराती अर्थ :- प्रियजननी आशावड़े मारो आ जन्म तो निष्फल गयो, पण हे भगवन्! अन्य जन्ममां मने ते ज पति आपजो!

हिन्दी अनुवाद :- प्रियजन की आशा से मेरा यह जन्म तो निष्फल गया, किन्तु हे! भगवान्! अन्य जन्म में मुझे ये ही पतिदेव देना।

गाहा :- कनकमालानी प्राणत्यागनी इच्छा

भो सुष्यइड्डु! एवं भणिरुणं ताहि कणगमालाए ।

विअलंत-शूल-अंसुय-पवाह-संसित्त-सिहिणाए ॥२०॥

नाणाविह-रयण-विणिम्मियम्मि पसरंत-विमल-किरणम्मि।

गब्भ-हर-दार-निहिए रम्मे, अह तोरणे तीए ॥२१॥

बद्धो निउत्तरीएण पासओ ताहि सा पुणो भणइ ।

एसा मरामि संपइ कुसुमाउह! तुज्झ पुरओ हं ॥२२॥

संस्कृत छाया :-

भोः! सुप्रतिष्ठ! एवं भणित्वा तदा कनकमालया ।

विगलत् - स्थूलाश्रुप्रवाह-संसिक्तस्तनया ॥२०॥

नानाविधरत्नविनिर्मिते प्रसरद्-विमलकिरणे ।

गर्भगृहद्वार-निहिते रम्येऽथ, तोरणे तया ॥२१॥

बद्धो निजोत्तरीयेण पाशकस्तदा सा पुनर्भणति ।

एषा प्रिये सम्प्रति कुसुमायुध! तव पुरतोऽहम् ॥२२॥ तिसृभिः कुलकम् गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे कहीने हे सुप्रतिष्ठ! त्पारे पडता मोटा-मोटा

अश्रुना प्रवाह थी भिंजायेला स्तनवाली ते कनकमालाए विविध प्रकार ना रत्नो थी बनावेल, फेलाता निर्मल किरणवाळा, गर्भगृह ना द्वारमां रहेल मनोहर तोरण मां पोताना ओढवाना दुपट्टा द्वारा पाश बांध्यो, वली आ प्रमाणे बोलवा लागी हे! कामदेव! हमणा हूं आपनी पासे प्राणत्याग करू छुं। हिन्दी अनुवाद :- हे सुप्रतिष्ठ! ऐसा कहकर तब गिरते हुए अश्रु की प्रवाह से प्लावित स्तनवाली कनकमाला ने विविध प्रकार के रत्नों से रचित, देदीप्यमान निर्मल कान्तिवाले गर्भगृह के द्वार में रहे मनोहर तोरण में अपने उत्तरीय (आंचल) द्वारा पाश बांधा और इस प्रकार बोलने लगी - हे कामदेव! अभी मैं आपके चरणों में प्राण-त्याग करती हूँ।

गाहा :-

मा मह भणिज्ज कोवि हु विहियमजुत्तंति कणगमालाए ।

एत्तियमित्तं कालं विमालियं जेण आसाए ॥२३॥

संस्कृत छाया :-

मा महयं भणतु कोऽपि खलु विहितमयुक्तमिति कनकमालया ।

एतावन्मात्रं कालं विगलितं येनाऽऽशया ॥२३॥

गुजराती अर्थ :- कनकमालाए आ बहु अजुगत्तु कर्यु एवो मने कोई ठपको न आपे ते कारण थी में आशावड़े ज आटलो समय पत्सार कर्यो!

हिन्दी अनुवाद :- कनकमाला ने अयुक्त कार्य किया है, ऐसा कोई न कहे इसी कारण से मैंने इस आशा में इतना समय व्यतीत किया है।

गाहा :-

इण्हि पुण न हु सक्का काउं भंगं तु निय-पइन्नाए ।

तं मोत्तुं हियय-दइयं न लग्गए मह करे अन्नो ॥२४॥

संस्कृत छाया :-

इदानीं पुन न खलु शक्या कर्तुं भङ्गं तु निज-प्रतिज्ञायाः ।

तं मुक्त्वा हृदयदयितं न लगेद् मम करेऽन्यः ॥२४॥

गुजराती अर्थ :- वली हवे हूँ अत्यारे मारी प्रतिज्ञा नो भंग करवा माटे पण समर्थ नथी कारण के ते मनोवल्लभ ने छोडी ने मारा हाथ मां अन्य (पुरुष नो) हाथ नहीं स्पर्शो।

हिन्दी अनुवाद :- अब तो मैं अपनी प्रतिज्ञा को भंग करने को मैं समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि मनोवल्लभ को छोड़कर अन्य पुरुष का हाथ मेरे हाथ से स्पर्श नहीं करेगा।

गाहा :- अन्यच्च

अन्नं च देवयाओ! अलियं जंपंति नेय कइयावि ।

तंपि हु अन्नह जायं मज्झ अउत्तेहिं पावाए ॥२५॥

संस्कृत छाया :-

देवताः! अलीकं जल्पन्ति नैव कदापि ।

तदपि खल्वन्यथा जातं मम अपुण्यैः पापायाः ॥२५॥

गुजराती अर्थ :- हे! देवताओं! आप क्याते पण असत्य बोलता नथी तो पण पापी एवा मारा अपुण्यथी अन्यथा थयुं! (देव वाणी असत्य थई)

हिन्दी अनुवाद :- हे! देवताओं! आप कभी असत्य नहीं बोलते हैं फिर भी मुझ जैसे अपुण्य पापी से (असत्य हुआ) अन्यथा हुआ।

गाहा :-

अहव कवडेण केणावि पिसाय-रूवेण वंचिया तइया ।

नहवाहण-भत्तेणं अहवा खयरेण केणावि ॥२६॥

संस्कृत छाया :-

अथवा कपटेन केनापि पिशाचरूपेण वञ्चिता तदा ।

नभोवाहन भक्तेना (भर्त्रा) थवा खेचरेण केनापि ॥२६॥

गुजराती अर्थ :- अथवा पिशाचरूपवाला कोई कपटी वडे, अथवा नभोवाहन (पति) वडे अथवा - नभोवाहनना भक्त एवा कोइपण विद्याधर वडे हुं ठगाइ छुं।

हिन्दी अनुवाद :- अथवा पिशाच रूपवाले किसी कपटी से अथवा नभोवाहन से अथवा नभोवाहन के किसी भक्त विद्याधर से मैं भ्रमित की गई हूँ।

गाहा :-

ता संपयंपि मा होज्ज मज्झ अभिवंछियत्थ-बाघाओ ।

भयवं! तुह प्पसाया सिज्झउ मरणं अविग्घेण ॥२७॥

संस्कृत छाया :-

तस्मात् साम्प्रतमपि मा भवतु ममाभिवाञ्छितार्थव्याघातः ।

भगवन्! तव प्रसादात् सिध्यतु मरणमविघ्नेन ॥२७॥

गुजराती अर्थ :- तेथी हमणा पण मारा इच्छित अर्थमां मने विघ्न न

थाय अने भगवन्! तारी कृपाथी मने निर्विघ्ने मरण प्राप्त थाय।

हिन्दी अनुवाद :- अभी भी मुझे मेरे इच्छित कार्य में विघ्न न हो एवं हे भगवन्!

आपकी कृपा से विघ्न रहित मृत्यु की प्राप्ति हो।

गाहा :-

पिय-विरह-गरुय-मोगगर-जज्जरिय-मणाए मज्झ पावाए ।

मरणं होज्ज न होज्ज व अज्जवि आसंकए हिययं? ॥२८॥

संस्कृत छाया :-

प्रियविरहगुरुमुद्गर-जर्जरित-मनसो मे पापायाः ।

मरणं भवेद् न भवेद् वाऽद्यापि आशङ्कते हृदयम्? ॥२८॥

गुजराती अर्थ :- प्रिय ना विरह रूपी भारे मुद्गर थी जर्जरित थयेला

मनवाली पापीणी मारुं मरण थयो के नही? तेमां अत्यारे पण हृदय शंका

पामे छे!

हिन्दी अनुवाद :- प्रिय के विरह तुल्य मुद्गर से जर्जरित हुए मनवाली मेरे जैसी

पापिणी की मृत्यु होगी की नहीं? इसकी अभी भी हृदय में शंका है।

गाहा :-

पिय-विरह-दुक्ख-समणं लब्भइ मरणंपि गरुय-पुत्रेहिं ।

तं जइ हविज्ज इण्हं सुकयत्था होज्ज ता अहयं ॥२९॥

संस्कृत छाया :-

प्रियविरहदुःखशमनं लभ्यते मरणमपि गुरुक-पुण्यैः ।

तद् यदि भवेदिदानीं सुकृतार्था भवेयं तर्हि अहम् ॥२९॥

गुजराती अर्थ :- प्रियविरह ना दुःख ने शमावनारू मरण पण महापुण्य

थी प्राप्त कराय छे जो अत्यारे ते प्राप्त थाय तो हुं कृतार्थ थाउं।

हिन्दी अनुवाद :- प्रियविरह के दुःख को शान्त करनेवाली मृत्यु भी महापुण्य के

उदय से प्राप्त होती है। यदि अभी वह प्राप्त हो तो मैं अपने को कृतार्थ मानूंगी।

गाहा :- कनकमालानो प्राणत्याग माहे प्रयत्न

एवं भणियं तीए मुक्को अप्पा अहोमुहो ज्जत्ति ।

तुरियं गंतूण मए छिन्नो अह पासओ तीए ॥३०॥

संस्कृत छाया :-

एवं भणितं तथा मुक्त आत्माऽधोमुखो झटिति ।

त्वरितं गत्वा मया छिन्नोऽथ पाशकस्तस्याः ॥३०॥

गुजराती अर्थ :- तेणीए आ प्रमाणे कहयुं अने जल्दी थी पोताने लटकती मुकी के तरत ज त्यां जल्दी थी जईने में तेणी नो पाश छेदी नाख्यो।  
हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार बोलकर जल्दी से स्वयं अधोमुख लटक गई और तुरंत ही मैंने जाकर उसका पाश तोड़ डाला।

गाहा :- कनकमालाने प्रियनो संयोग

गह्किण तयं अंके ताहे सणियं मए इमं भणिया।

निज्जिय-सुरासुरिंदो तुड्डो तुह सुयणु! रइ-नाहो ॥३१॥

संस्कृत छाया :-

गृहीत्वा तकां अङ्के तदा शनै र्मयेदं भणिता।

निर्जितसुरासुरेन्द्रस्तुष्टस्तव सुतनो! रतिनाथः॥३१॥

गुजराती अर्थ :- न्यारे तेणी ने गोद मा लई ने मन्द स्वर थी में आ प्रमाणे कहयुं, हे सुंदरी! सुर अने असुरेन्द्रोने पराजय करनार कामदेव तारी उपर प्रसन्न थयो छे।

हिन्दी अनुवाद :- और उसी समय उसे गोद में लेकर मैंने मन्दस्वर से इस प्रकार कहा, हे - सुतनी! (सुंदरी) सुरासुरेन्द्र को पराजित करने वाला कामदेव तुझ पर प्रसन्न हुआ है।

गाहा :-

असरिस-साहस-आवज्जिएण मयरद्धएण तुह सुयणु!।

एयम्मि चव जम्मे उवणीओ सो जणो एसो॥३२॥

संस्कृत छाया :-

असदृश-साहसाऽऽवर्जितेन मकरध्वजेन तव सुतनो!।

एतस्मिंश्चैव जन्मनि उपनीतस्स जन एष ॥३२॥

गुजराती अर्थ :- हे सुंदरी! तारा अनन्य साहस थी प्रसन्न थयेला कामदेवे आ जन्ममां ज ते पुरुष तने मेलवी आप्यो छे।

हिन्दी अनुवाद :- तथा हे सुंदरी! तेरे इस अनन्य साहस से प्रसन्न हुए कामदेव ने इसी जन्म में ही तुझे उस पुरुष से मिलाप कराया है।

गाहा :-

किज्जउ कंठ-ग्गहणं गाढं उक्कंठिओ जणो तुज्झ।

एवं भणिया बाला लज्जाए अहोमुही जाया॥३३॥

संस्कृत छाया :-

कुर्यात् कण्ठग्रहणं गाढमुत्कण्ठितो जनस्तव।

एवं भणिता बाला लज्जयाऽधोमुखी जाता॥३३॥

गुजराती अर्थ :- तुं पण गाढ प्रेम थी कंठ ने ग्रहण कर तारा उपर बहु उत्कंठित थयो छुं. आ प्रमाणे (सांभलीने) कहेवायेली बाला लज्जा थी अधो मुरवबाली थीई।

हिन्दी अनुवाद :- तुझ पर अति उत्कण्ठित हुआ हूँ, तू भी गाढ़ प्रेम से कण्ठ को ग्रहण कर, इस प्रकार कही गई बाला लज्जा से अधोमुखी हो गई!

गाहा :-

चित्तगईवि य ताहे समागओ तम्मि चेव ठाणम्मि।

तत्तो य मए भणियं वर-मित्तो एस मह सुयणु! ॥३४॥

संस्कृत छाया :-

चित्रगतिरपि च तदा समागतस्तस्मिन्नैव स्थाने।

ततश्च मया भणितं वरमित्रमेतद् मे सुतनो! ॥३४॥

गुजराती अर्थ :- चित्रगति पण त्यारे ते ज स्थाने आव्यो, त्यारे में कहयुं, हे सुतनो! आ मारो परम मित्र छे।

हिन्दी अनुवाद :- तभी चित्रगति भी उस स्थान पर आया, तब मैंने कहा - 'हे सुतनु! यह मेरा परम मित्र है।'

गाहा :-

तुज्झ विओए सुंदरि! अप्प-वहे उज्जओ अहमिमेण।

विणिवारिओ अकारण-वच्छल्ल-जुएण धीरेण ॥३५॥

संस्कृत छाया :-

तव वियोगे सुन्दरि! आत्मवधे उद्यतोऽहमनेन।

विनिवारितोऽकारणवात्सल्ययुक्तेन धीरेण ॥३५॥

गुजराती अर्थ :- हे सुन्दरि! तारा वियोगमां आत्मवध माटे उद्यमी थयेलो हुं, निष्कारण वत्सल, धीर एवा आ पुरुष वड़े रोकायो।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुन्दरी! तेरे वियोग से आत्मवध के लिए उद्यमी हुए निष्कारण वत्सल-धीर ऐसे इस पुरुष ने मुझे बचाया है।

गाहा :-

तुह पावणे उवाओ एसो मह साहिओ इमेणेव।

एएण सहाएणं सिज्झिस्सइ इच्छियं अह ॥३६॥

संस्कृत छाया :-

तव प्रापण उपाय एष मम कथितोऽनेनैव।

एनेन सहायेन सेत्स्यति इच्छि तंवाम् ॥३६॥

गुजराती अर्थ :- तने मेळववानो उपाय पण आणे ज मने कहयो, अने ए सहायकर्ताथी ज आपणा बझे नी मनोकामना सिद्ध थयो।

हिन्दी अनुवाद :- तेरी प्राप्ति का उपाय भी इसी ने मुझे बताया और इसी की सहायता से हम दोनों की इच्छित सिद्धि होगी।

गाथा :-

कत्रा-सहाव-सुलहं उज्झिता सज्झसं सुयणु! तम्हा।

निय-नेवत्थं सव्वं झत्ति सम्प्येसु एयस्स।।३७।।

संस्कृत छाया :-

कन्या-स्वभाव-सुलभमुज्झित्वा साधवसं सुतनो! तस्मात्।

निजनेपथ्यं सर्वं झटिति समर्पय एतस्मै।।३७।।

गुजराती अर्थ :- आथी हे! सुंदरांगी! कन्या ना स्वभाव सुलभ भय छोडीने तारा पोताना सर्व वस्त्र-अलंकार जल्दी थी आने आपी दे।

हिन्दी अनुवाद :- अतः हे सुतनो! कन्या के स्वभाव सुलभ भय छोड़कर तू अपने सभी वस्त्र-अलंकार इसे जल्दी से अर्पित कर दो।

गाथा :-

कारुण तुज्झ रूवं जेण इमो सुयणु! वच्चए बहिं ।

परियण-विमोहणट्ठा पर-कज्ज-समुज्जओ धीरो।।३८।।

संस्कृत छाया :-

कृत्वा तव रूपं येनायं सुतनो! व्रजेद् बहिः।

परिजन-विमोहनार्थं परकार्य-समुद्यतो धीरः।।३८।।

गुजराती अर्थ :- हे सुंदरी! जेथी परोपकारमां तत्पर, धैर्यवान आ मारो मित्र सेवकजनने विमोहित (भ्रमित) करवा माटे तारु रूप करीनें बहार जाय।

हिन्दी अनुवाद :- जिससे कि हे सुंदरी! परकार्य में तत्पर एवं धीर यह महापुरुष तेरे परिजन को मोहित या भ्रमित करने के लिए तुम्हारा रूप धारण करके बाहर जाय।

गाथा :-

एवं च मए भणिया सहरिस-हियया करेइ तं सव्वं ।

अह दोवि निलुक्काइं पुणरवि मयणस्स पट्ठीए।।३९।।

संस्कृत छाया :-

एवं च मया भणिता सहर्ष-हृदया करोति तत्सर्वम्।

अथ द्वावपि निलीनौ पुनरपि मदनस्य पृष्ठे।।३९।।

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे मारा कहेवाथी हर्षसहित सर्वं कर्तुं अने वली अमे बझे कामदेवनी पाछल छुपाई गया।

**हिन्दी अनुवाद :-** इस प्रकार मेरे कहने से हर्षसहित उसने सब कुछ किया और पुनः हम दोनों कामदेव के पीछे छुप गये।

**गाहा :-** मित्रनी आज्ञाधी चित्रगतिद्वारा कनकमालाना वस्त्र तथा अलङ्कारादिनुं परिधान  
चित्तगईवि य तीए नीसेसं निविसिऊण नेवत्थं ।  
उग्घाडिउं दुवारं आरूढो झत्ति सिवियाए ॥४०॥

**संस्कृत छाया :-**

चित्रगतिरपि च तस्या निःशेषं निविश्य नेपथ्यम् ।

उद्घाट्य द्वारमारूढो झटिति शिबिकायाम् ॥४०॥

**गुजराती अर्थ :-** चित्रगति पण तेणीना समस्त वस्त्र अलंकार ने धारण करीने द्वार उघाडीने शीघ्रता थी शिबिका मां बेठी।

**हिन्दी अनुवाद :-** चित्रगति भी बाला के सभी वस्त्र-अलंकार को पहनकर द्वार खोलकर शीघ्रता से शिविका में आरूढ़ हुआ।

**गाहा :-**

अह तम्मि गए लोए नीसहं जाणिऊण तं भवणं ।

भणिया य मए एसा सुंदरि! किं इण्ह कायव्वं? ॥४१॥

**संस्कृत छाया :-**

अथ तस्मिन् गते लोके निःशब्दं ज्ञात्वा तद्भवनम् ।

भणिता च मयैषा सुन्दरि! किमिदानीं कर्तव्यम् ॥४१॥

**गुजराती अर्थ :-** हवे ते लोक गये छते ते भवन ने शांत जाणी ने में तेने कहयुं, “हे सुन्दरी! हवे आपणे अहीं शुं करवु जोइए?”

**हिन्दी अनुवाद :-** तब सभी लोगों के जाने पर कामदेव के मंदिर को शून्य जानकर मैंने उसे कहा “हे सुन्दरी! हमें अब क्या करना चाहिए?”

**गाहा :-**

ओणयं-मुहीए तीए सज्झस-वस-कंपमाण-गत्ताए ।

कहकहवि हु उल्लविओ खलंत-अव्वत्त-वाणीए ॥४२॥

गुरु-विरह-पीडियाए पिययम! तं पाविओ तुडि-वसेण ।

कुणसु सयं जं जुत्तं सरणम्मि समाणया तुज्झ ॥४३॥

**संस्कृत छाया :-**

अवनतमुख्या तथा साध्वसवश कम्पमान गात्रया ।

कथं-कथमपि खलुल्लपितः स्वल्प-अव्यक्तवाण्या ॥४२॥

गुरुविरह-पीडितया प्रियतम! त्वं प्राप्तः त्रुटिवशेन ।

कुरु स्वयं यद् युक्तं शरणे समानता तव ॥४३॥ युग्मम् ।



गुजराती अर्थ :- ते सांभली लज्जाथी अधोमुख थयेली, भयथी कम्पता देहवाली, केमे करीने भांगी तूटी अस्पष्ट वाणी बोली, 'हे प्रियतम! भाटे दुःख थी पीडित एवी मने दैवयोगथी तुं मळयो छे। हुं तारा शरणे समर्पित छु। हवे जेम योग्य लागे तेम तमे कटो।'

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सुनकर लज्जा से अधोमुखी, भय से कम्पित देहवाली प्रयत्नपूर्वक अस्पष्ट वचन बोली 'हे प्रियतम'! अति दुःख से पीडित मुझे भाग्य योग से आप मिले हैं, मैं आपके शरण में समर्पित हूँ, आपको जो उचित लगे वह कीजिए।

गाहा :- चित्रवेगद्वारा कनकमाला साथे गान्धर्व विवाह

एवं तीए भणिए गंधव्व-विहीए सा मए बाला ।

परिणीया तं मयणं देवं काऊण सक्खणयं<sup>१</sup> ॥४४॥

संस्कृत छाया :-

एवं तस्यां भणितायां गान्धर्वविधिना सा मया बाला ।

परिणीता तं मदनं देवं कृत्वा साक्षिकम् ॥४४॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे तेणी ए कहुं त्यारे मदनदेवनी साक्षीए ते बाला ने गन्धर्व विधि पूर्वक हूँ परण्यो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार बाला के कहने पर मदनदेव को साक्षी मानकर उस बाला के साथ गान्धर्व-विधि द्वारा मैंने विवाह किया।

गाहा :-

अवणित्तु<sup>२</sup> कमेण तओ सज्झसमेईइ विविह-वयणोहिं ।

खणमेगं रमिऊणं सुत्तो आलिङ्गिऊण तयं ॥४५॥

संस्कृत छाया :-

अपनीय क्रमेण ततः साध्वसमेतस्या विविधवचनैः ।

क्षणमेकं रन्त्वा सुप्त आलिङ्ग्य तकाम् ॥४५॥

गुजराती अर्थ :- त्यार पछी क्रमे करीने विविध वचनो द्वारा एणीना भय ने दूर करीने एक क्षण रमीने तेणीने आलिंगन करीने सूई गयो।

हिन्दी अनुवाद :- बाद में विविध वचनों द्वारा उसके भय को दूर करके एक क्षण क्रीड़ा करके उससे आलिंगन बद्ध होकर सो गया।

गाहा :-

निद्दा-विगमे थ मए वज्जरियं सुयणु! वच्चिमो इण्हिं ।

एरिसमायरिऊणं न हु जुत्तं अच्छिउं एत्थ ॥४६॥

१. सक्खणयं = साक्षिकम् २. अवणित्तु = अपनीय, दूरीकृत्य

संस्कृत छाया :-

निद्राविगमे च मया उक्तं सुतनो! व्रजाव इदानीम् ।

ईदृक्ष-माचर्य न खलु युक्त-मासितुमत्र ॥४६॥

गुजराती अर्थ :- निद्रा दूर थये छते में तेणीने कहयुं हे सुंदरी! आपणे अत्याचे अहीं थी जईए, आवा प्रकारनुं आचरण करी ने अहीं रहेवु योग्य नथी।

हिन्दी अनुवाद :- जागने पर मैंने उससे कहा, हे सुतनो। अब यहाँ से अन्य स्थान पर जाना चाहिए। इस प्रकार का आचरण करके यहाँ रहना उचित नहीं है।

गाहा :-

दीहं नीससिएणं अह भणियं तीइ हियय-दइयाए।

हा अज्ज-उत्त! जुत्तं कम-पत्तं आसि मह मरणं ॥४७॥

संस्कृत छाया :-

दीर्घ निःश्वस्याऽथ भणितं तथा हृदयदयितया ।

हा! आर्यपुत्र! युक्तं क्रमप्राप्तमासीद् मे मरणम् ॥४७॥

गुजराती अर्थ :- लांबो निःश्वास नाखीने ते हृदयवल्लभाए कह्युं। हे आर्यपुत्र! आनाथी तो परंपरा प्राप्त थयेलु मारु मरण ज योग्य हतु।

हिन्दी अनुवाद :- लंबा निःश्वास लेकर उस हृदयवल्लभा ने कहा - 'हे आर्यपुत्र! इससे तो मेरी मृत्यु होना ही ठीक था।

गाहा :-

मज्झ निमित्ते पाविसि सामिय! जं गरुय-आवइं इण्हं ।

नहवाहणो पयंडो विज्जा-बल-दप्पिओ तह य ॥४८॥

संस्कृत छाया :-

मम निमित्ते प्राप्नोषि स्वामिन् यद् गुर्वाप दमिदानीम् ।

नभोवाहनः प्रचण्डो विद्याबलदर्पितस्तथा च ॥४८॥

गुजराती अर्थ :- कारण के हे स्वामिन् ! मारा निमित्ते आपणे अत्याचे मोटी आपत्ती आवशे अने वली नभोवाहन राजा विद्या अने बल थी गर्विष्ठ प्रचण्ड राजा छे।

हिन्दी अनुवाद :- क्योंकि हे स्वामिन् ! मेरी वजह से आपको अभी बड़ी परेशानियां आयेंगी, क्योंकि नभोवाहन राजा विद्या और बल से गर्विष्ठ बलवान राजा है।

गाहा :-

नासंताणवि अहं न नाह ! सरणं तु विज्जाए किंचि ।

ता तुह वइरिणि-रूवा जाया परमत्थओ अहयं ॥४९॥

संस्कृत छाया :-

नश्यतोरपि आवयो र्न नाथ! शरणं तु विद्यते किञ्चित् ।

तावत् तव वैरिणीरूपा जाता परमार्थतोऽहम् ॥४९॥

गुजराती अर्थ :- अहीं थी भागी जता आपणु कोई पण शरण नथी तेथी परमार्थथी तो हुं आपणी वेरी थई छूं।

हिन्दी अनुवाद :- यहाँ से भागने पर अपना कोई भी शरण नहीं है, अतः परमार्थ से तो मैं आपकी वैरी (शत्रु) हो गयी हूँ।

गाहा :-

तुह-विरह-तावियाए न आसि मह सामि ! तारिसं दुक्खं।

जं तुह नाह ! विवत्तिं संभाविय इण्ह संजायं ॥५०॥

संस्कृत छाया :-

तव विरह-तप्ताया नासीद् मे स्वामिन् ! तादृग् दुःखम् ।

यत् तव नाथ! विपत्तिं सम्भाव्येदानीं सज्जताम् ॥५०॥

गुजराती अर्थ :- हे स्वामिन्! आपणा विरहथी पीडित ऐवी मने तेदलु दुःख न हतु जे अत्यारे आपणी पर आवेला संकट ने विचारी ने थयु।

हिन्दी अनुवाद :- हे स्वामिन् ! आप के विरह से पीड़ित थी तब भी मुझे उतना दुःख नहीं था जो दुःख अभी आप पर आने वाले संकट को देखकर हो रहा है।

गाहा :-

लब्धोवि नाह! कहवि हु मज्झ अउत्राए होसि न हु इण्हं।

पुन्न-रहियाण अहवा पत्तंपि हु विहडए सहसा ॥५१॥

संस्कृत छाया :-

लब्धोऽपिनाथ! कथमपि खलु ममापुन्याया भवसि न खल्विदानीम् ।

पुण्यरहितानामथवा प्राप्तमपि खलु विघटते सहसा ॥५१॥

गुजराती अर्थ :- हे नाथ! केमे करीने तुं मळयो पण हवे अभागणी एवी मारो नहिं थाय अथवा भाग्यहिनी ने प्राप्त थयेलु पण वास्तवमां नाश्च पामी जाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे नाथ! मुझ अभागिनी को किसी प्रकार आप मिल गये किन्तु वह मिलना नहीं के बराबर है, क्योंकि भाग्यहीन मनुष्यों को मिली चीज वास्तव में नष्ट हो जाती है।

गाहा :-

भो सुप्यइद्ध! एवं भणिउं अवलम्बिऊण मह कंठे ।

गुरु-दुक्ख-निम्भराए रुन्नं अह तीए बालाए ॥५२॥

संस्कृत छाया :-

भोः! सुप्रतिष्ठ! एवं भणित्वाऽवलम्ब्य मम कण्ठे ।

गुरूदुःख-निर्भरया रूदितमथ तया बालया ॥५२॥

गुजराती अर्थ :- हे सुप्रतिष्ठ! हवे आ प्रमाणे कहिने मने गले वळगी ने भारे दुःख थी भरारयेली ते बाला रडवा लागी।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार कहकर वह बाला मेरे गले लगाकर अति दुःख से भरी हुई रोने लगी।

गाहा :-

तत्तो य मए भणियं सुंदरि! किं सोयमसरिसं वहसि? ।

लब्धं जं लहिअव्वं इण्हं जं होउ तं होउ ॥५३॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया भणितं सुन्दरि! किं शोचमसदृशं वहसि? ।

लब्धं यद् लब्धव्यमिदानीं यद् भवतु तद् भवतु ॥५३॥

गुजराती अर्थ :- आथी में कहयुं, हे सुन्दरी! शा कारणे विशेष शोक ने धारण करे छे। जे मेळववानु हतुं मळी गयु हवे जे थवानु होय ते थाओ।

हिन्दी अनुवाद :- अतः मैंने कहा - “हे सुन्दरी! किस हेतु से विशेष शोक को धारण करती हो? जो मिलना था वह मिल गया, अब जो होने वाला है वह होगा।”

गाहा :-

तुह संगम-रहियाणं मरणं जइ होज्ज, होज्ज ता दुक्खं ।

इण्हं पुणम्ह सुंदरि! मरणेवि हु नत्थि दुक्खंति ॥५४॥

संस्कृत छाया :-

तव सङ्गमरहितानां मरणं यदि भवेत् भवेत् तर्हि दुःखम् ।

इदानीं पुन रावयोः सुन्दरि! मरणेऽपि खलु नास्ति दुःखमिति ॥५४॥

गुजराती अर्थ :- जो तारा सङ्ग थी रहित मारु मरण थात तो मने दुःख थात, वळी हे सुन्दरी! अत्यारे तो आपणा बड्ढेना मरण मा पण दुःख नथी!

हिन्दी अनुवाद :- यदि तुम्हारे (सङ्ग) बिना मेरी मृत्यु होती तो मुझे दुःख होता, अभी तो हे सुन्दरी! दोनों की मृत्यु में भी मुझे दुःख नहीं है!

गाहा :- किंच

एसो अचिंतिओवि हु जह जाओ संगमो सह तुमाए ।

तह चेव मा कयावि हु अत्रं पि हु सोहणं होज्जा ॥५५॥

संस्कृत छाया :- किञ्च

एषो अचिन्तितोऽपि खलु यथा जातस्सङ्गमः सह त्वया ।

तथैव मा कदापि खल्वन्यदपि तु शोभनं भवेद् ॥५५॥

गुजराती अर्थ :- केम के जेवी रीते अणधार्यो एवो पण तारी साथे संगम थयो, तेवी ज रीते बीजू काई पण सुंदर हवे नहिं थाय।

हिन्दी अनुवाद :- क्योंकि जिस तरह अचानक तुम्हारे, साथ संगम हुआ वैसा अन्य कुछ भी सुंदर नहीं हो सकता।

गाहा :-

कीरउ ताव उवाओ अहलो जइ होइ होऊ, को दोसो?।

मंचय-वडियाण पुणो तहड्विया चव भूमिति ॥५६॥

संस्कृत छाया :-

क्रियतां तावदुपायोऽफलो यदि भवति भवतु को दोषः?।

मञ्चपतितानां पुनस्तथा स्थितैव भूमिरिति ॥५६॥

गुजराती अर्थ :- तो हवे कोई उपाय करवो जोइए, जो ते निष्फल थाय तो थवा दो, तेमां शुं दोष? कारण के मञ्च उपर थी पडेला नी छेवटनी स्थिति भूमि ज होय छे।

हिन्दी अनुवाद :- अतः कुछ भी उपाय करना चाहिए यदि वह निष्फल हुए तो होने दो, उसमें क्या दोष है? क्योंकि मञ्च पर से गिरे हुए की अंतिम स्थिति भूमि ही होती है।

गाहा :-

नहवाहन-खयरं तं ददूण मए इमं कयं सुयणु! ।

भवियव्वयाए दिदुं होज्जा जं किञ्चिमह उचियं ॥५७॥

संस्कृत छाया :-

नभोवाहनखेचरं तं दृष्ट्वा मयेदं कृतं सुतनो! ।

भवितव्यतया दृष्टं भवेत् यत् किञ्चिदथोचितम् ॥५७॥

गुजराती अर्थ :- हे सुन्दरी! ते नभोवाहन खेचरने जोईने में आ प्रमाणे कर्युं छे अने हवे! भवितव्यताए जे काई उचित जोयु होय ते थवा दो!

हिन्दी अनुवाद :- हे सुन्दरी! उस नभोवाहन विद्याधर को देखकर मैंने यह किया है अब विधि ने जो उचित देखा है सो होने दो!

गाहा :-

अब्भुवगयं हि मरणं नासिज्जउ तहवि ताओ खयराओ।

जल-चव्वणुज्जयाणं मा कहवि हु एइ गुलओविं ॥५८॥

१- गुडकः

संस्कृत छाया :-

अभ्युपगतं हि मरणं नश्यतां तथापि तस्मात् खेचरात्।

जल चर्वणोद्यतानां मा कथमपि खलु एति गुडकोऽपि॥५८॥

गुजराती अर्थ :- निश्चये मरणने तो स्वीकारेलु छे तो पण ते खेचरथी भागवु जोइए केम के जे पाणी ने पण चावतो होय, तेने गोल पण एमने एम न उतरे!

हिन्दी अनुवाद :- मृत्यु तो निश्चित ही है फिर भी उस विद्याधर से भागना चाहिए, क्योंकि जो पानी को भी चबाता है वह गुड़ को यूँ ही नहीं निगलेगा।

गाहा :- युगलनुं आकाशमागं प्रयाण

ता सुयणु! मुंच सोयं वच्चामो रयणसंचए ताव।

कालोचियं च पच्छा दिदुं दिदुं करिस्सामो॥५९॥

संस्कृत छाया :-

तर्हि सुतनो! मुञ्च शोकं व्रजावो रत्नसञ्चये तावद्।

कालोचितं च पश्चाद् दृष्टं दृष्टं करिष्यावः॥५९॥

गुजराती अर्थ :- हे सुतनो! आधी तु शोक ने छोड, हवे आपणे रत्नसंचय नगरी मां हमणा जईए अने पछी थी काल ने उचित जोइ जोइने करीशुं।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुतनो! अतः तू शोक को छोड़, हम रत्नसंचय नगरी में अभी चलें, फिर बाद में उस समय जो उचित लगेगा वह करेंगे।

गाहा :-

तत्तो य तीए समयं नीहरिओ पणमिऊण रइ-नाहं।

अह तीए कंठ-लग्गो उप्पइओ गयण-मग्गम्मि॥६०॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च तया समकं निःसृतः प्रणम्य रतिनाथम्।

अथ तस्याः कण्ठलग्न उत्पतितो गगनमार्गं॥६०॥

गुजराती अर्थ :- तयार पछी कामदेव ने नमस्कार करीने तेणीनी साथे निकल्यो। अने तेणी ना कण्ठमां लपटाइने आकाश मार्ग प्रयाण कर्युं।

हिन्दी अनुवाद :- बाद में कामदेव को नमन करके उसके (कन्या के) साथ निकला, और उसके गले में हाथ लिपटाकर गगन मार्ग द्वारा प्रयाण किया।

गाहा :-

रागंधयार-मोहिय-नराण दट्ठुं व तारिसं चरियं।

दूरं नासिय-तिमिरो अह सहसा उग्गओ सूरु॥६१॥

संस्कृत छाया :-

रागान्धकार-मोहित-नराणां दृष्ट्वा इव तादृक् चरितम् ।

दूरं नासित-तिमिरोऽथ सहसोदगतः सूरः ॥६१॥

गुजराती अर्थ :- रागरूपी अन्धकारधी मोहित थयेला मनुष्योना तेवा प्रकारना चरित्रने जोडने जाणे अंधकारने नष्ट करेतो सूर्य अचानक दूरधी ऊढ्यो ।

हिन्दी अनुवाद :- रागरूपी अंधकार से मोहित हुए मनुष्यों के वैसे चरित्र देख के मानो अंधकार को नष्ट करता हुआ सूरज अचानक दूर से आया।

गाहा :-

तत्तो य तीए भणियं सामिय! गाढं पिवासिया अहयं ।

सूसइ गलयं अज्जवि केदूरे<sup>१</sup> अम्ह तं नयरं? ॥६२॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च तया भणितं स्वामिन् ! गाढं पिपासिताऽहकम् ।

शुष्यति गलकमद्यापि कियद् दूरं वा तद् नगरम् ॥६२॥

गुजराती अर्थ :- त्याचे तेणीए कहयुं, हे स्वामिन्! मने बहु तरस लागी छे गळु सुकाय छे, पण आपणुं ते नगर केटळुं दूर छे?।

हिन्दी अनुवाद :- तब उसने कहा- हे स्वामिन्! मुझे बहुत प्यास लगी है, गला भी सूख गया है, किन्तु हमारा वो नगर कितना दूर है?

गाहा :-

दूरे अज्जवि नयरं सुंदरि इत्थ वण-निगुंजम्मि ।

ओयरिमो जं होही इत्थ जलं एव मे भणिए ॥६३॥

संस्कृत छाया :-

दूरे अद्यपि नगरं सुन्दरि! अत्र वननिकुञ्जे ।

अवतरावो यद् भविष्यत्यत्र जलमेवं मया भणितम् ॥६३॥

गुजराती अर्थ :- त्याचे में कहयुं ! हे सुन्दरी ! हजी पण नगर दूर छे छतां आपणे अहीं जंगलनी गीच झाडीमां उतरियो। अहीं पाणी मळथे।

हिन्दी अनुवाद :- तब मैंने कहा- हे सुन्दरी! अपना नगर तो दूर है, फिर भी हम यहां जंगल के बीच झाड़ी में जायें, यहाँ पानी मिलेगा!

गाहा :-

तत्तो दोवि जणाइं अवइन्नाइं वणम्मि रम्मम्मि ।

सीयल-जल-पडिपुन्नं अह दिट्ठं तत्थ निज्जरणं ॥६४॥

१. केदूरे = कियदूरम्

संस्कृत छाया :-

ततो द्वावपि जनाववतीर्णो वने रम्ये ।

शीतल जल प्रतिपूर्णमथ दृष्टं तत्र निर्झरणम् ॥६४॥

गुजराती अर्थ :- तयार पछी ते बझे जणा पण सुंदर वनमां नीचे आव्या, अने त्यां शीतलजल थी भरेलुं झरणु जोयुं।

हिन्दी अनुवाद :- उसके बाद दोनों ही सुंदर वन निकुंज में नीचे गए और वहाँ पर शीतल जल से भरे झरने को देखा।

गाहा :-

पाऊण जलं अह सा पत्तल-तरु-छाहियाए उवविद्धा ।

काउं सरीर-चिंतं अहमवि तत्थेव आयाओ ॥६५॥

संस्कृत छाया :-

पीत्वा जलमथ सा पत्रल-तरुच्छायायामुपविष्टा ।

कृत्वा शरीरचिन्तामहमपि तत्रैवाऽऽयातः ॥६५॥

गुजराती अर्थ :- ते युवती पाणी पीने ने घटादार वृक्षनी छायामां बेठी। अने हूँ पण शारीरिक चिन्ता दूर करीने त्यां ज आव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- वह युवती पानी को पी के घने पत्तों से युक्त वृक्ष की छाया में बैठी तथा मैं भी शारीरिक चिन्ता से निवृत्त होकर वहाँ आया।

गाहा :-

भो सुप्पइद्धु! एवं खणंतरं वीसमामि जा तत्थ ।

ताव य निसुओ सहो आसन्ने केलि-गेहम्मि ॥६६॥

संस्कृत छाया :-

भो! सुप्रतिष्ठ! एवं क्षणान्तरं विश्राम्यामि यावत्तत्र ।

तावच्च निःश्रुतशब्द आसन्ने कदलिगृहे ॥६६॥

गुजराती अर्थ :- हे सुप्रतिष्ठ! आ रीते हजी एक क्षण विश्रामो कर्यो त्यां ज समीपवर्ति कदलीगृहमां शब्द संभळायो।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुप्रतिष्ठ! इस तरह से एक क्षण विश्राम किया, उतनी देर में समीपवर्ती केले के बगीचे में से आवाज सुनाई दी।

गाहा :-

जाया सत्थ-सरीरा सुंदरि! वच्वामु, इण्ह निय-ठाणं ।

एयं सहं सोउं एस विगप्पो महुप्पन्नो ॥६७॥



संस्कृत छाया :-

जाता स्वस्थ-शरीरा सुन्दरि! व्रजाव इदानीं निजस्थानम् ।

एनं शब्दं श्रुत्वा एष विकल्पो ममोत्पन्नः ॥६७॥

गुजराती अर्थ :- हे सुन्दरी! तू स्वस्थ देहवाली थी होय तो आपणे हवे आपणा स्थाने जईए, आ प्रमाणे शब्द सांगली ने मने आ विचार उत्पन्न थयो।

हिन्दी अनुवाद :- 'हे सुन्दरी! तू स्वस्थ हुई हो तो अपने-अपने स्थान पर चलें' इस तरह सुनकर मुझे यह विकल्प उत्पन्न हुआ।

गाहा :- चित्रगतितुं मिलन

नूनं चित्तगड्ढस्स य एसो सद्दो न होइ अन्नस्स ।

एयम्मि वण-निगुंजे अहवा को संभवो तस्स? ॥६८॥

संस्कृत छाया :-

नूनं चित्रगतश्चैष शब्दो न भवत्यन्यस्य ।

एतस्मिन् वननिकुञ्जोऽथवा कस्सम्भवस्तस्य ? ॥६८॥

गुजराती अर्थ :- निश्चये आ अवाज चित्रगतितनो ज छे बीजा कोईनो लागतो नथी, अथवा आ वन नी झाडीमां तेनो संभव क्यांथी होय?

हिन्दी अनुवाद :- निश्चित ही यह ध्वनि चित्रगति की ही है, अन्य किसी की नहीं है अथवा इस वन की झाड़ी में चित्रगति की उपस्थिति कैसे (संभव) हो सकती है?

गाहा :-

एवं विंचितियम्मी कयली-गेहाओ ताओ गुविलाओ ।

तरुण-महिला-समेओ चित्तगई इत्ति नीहरिओ ॥६९॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्तिते कदलीगृहात् तस्मात् गुपिलाद्<sup>१</sup> ।

तरुणमहिलान्समेतश्चित्रगति ईटिति निःसृतः ॥६९॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे विचार करे छते गाढ केलांना घरमांथी तरुण महिला सहित चित्रगति जल्दी नीकलयो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार सोच रहा था तभी घने कदलीगृह में से एक तरुण युवती के संग चित्रगति जल्दी से निकला।

गाहा :-

तत्तो गंतूण मए सहरिसमालिंगिओ स नेहेणं ।

अहमवि तेणं, तत्तो उवविट्ठा दोवि तत्थेव ॥७०॥

१. गहन

संस्कृत छाया :-

ततो गत्वा मया सहर्षमालिङ्गितः स स्नेहेन ।

अहमपि तेन, तत उपविष्टौ द्वावपि तत्रैव ॥७०॥

गुजराती अर्थ :- तयारे में जईने हर्ष सहित स्नेहपूर्वक आलिङ्गन कर्युं  
अने तेणे पण मने कर्युं, तयार पछी अमे बद्धे त्यां बेठा।

हिन्दी अनुवाद :- तभी मैंने वहाँ जाकर हर्षयुक्त स्नेह से आलिङ्गन किया, और उसने  
भी मुझे किया, बाद में हम दोनो वहीं बैठे।

गाथा :-

ततो य मए भणिओ नीहरिएणं तु मयण-गेहाओ ।

किं मित्र! तुमे विहियं विमोहिओ परियणो कह वा? ॥७१॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया भणितो निःसृतेन तु मदनगृहाद् ।

किं मित्रम्! त्वया विहितं विमोहितः परिजनः कथं वा? ॥७१॥

गुजराती अर्थ :- अने तयार पछी में पूछ्यु ! 'हे मित्र ! मदनगृहथी  
निकलेला तारा वडे शुं करायुं, दासीजन केवी रीते मोहित करवांमां आव्यो?।

हिन्दी अनुवाद :- तब मैंने पूछा- हे मित्रवर! मदनगृह से निकलकर तूने क्या  
किया? और दासीजन को कैसे मोहित किया!

गाथा :-

कह व तुमं निच्छुट्टो का वा एसा मणोहरागारा ।

महिला, कथ्य व पत्ता, साहसु मह सच्चमेयंति? ॥७२॥

संस्कृत छाया :-

कथं वा त्वं निर्मुक्तः का वा एषा मनोहराऽऽकारा।

महिला, कुत्र वा प्राप्ता, कथय मह्यं सर्वमेतदिति ॥७२॥

गुजराती अर्थ :- अथवा तूं केवी रीते मुक्त थयो? अने आ  
मनोहराकृतिवाली महिला कोण छे? क्यां थी प्राप्त थई? आ बधु मने कहे।

हिन्दी अनुवाद :- अथवा तेरी मुक्ति कैसे हुई? और रूपवती यह महिला कौन है?  
तुझे कहाँ से प्राप्त हुई? यह सब मुझे बता।

गाथा :- चित्रगतिद्वारा रचपृसांत कथन

चित्तगई भणइ तओ निसुणसु भो चित्तवेग! एग-मणो।

काऊण कणगमाला-रुवमहं ताव नीहरिओ ॥७३॥

संस्कृत छाया :-

चित्रगति भणति ततो निःश्रुणु भोश्चित्रवेग! एकमनः!।

कृत्वा कनकमालारूपमहं तावद् निःसृतः ॥७३॥

१. निच्छुट्टो = निर्मुक्तः

गुजराती अर्थ :- एटले चित्रगति कहे छे, हे उत्कंठितमनवाला चित्रवेग!  
तूं सांभल! ज्यारे कनकमालानुं रूप करीने हुं त्यां थी निकल्यो।  
हिन्दी अनुवाद :- अतः चित्रगति ने कहा- 'हे चित्रवेग! तू सुन! जब कनकमाला  
के रूप को धारण करके मैं वहां से निकला -

गाहा :-

आरूढो सिबियाए पत्तो य कमेण वर-समीवम्भि ।  
विज्जाहरि-गण-गिज्जंत-विविह-वर-मंगलुप्पीलो ॥७४॥

संस्कृत छाया :-

आरूढः शिबिकायां प्राप्तश्च क्रमेण वरसमीपे ।  
विद्याधरीगणगीयमान-विविध-वरमङ्गलसमूहः ॥७४॥

गुजराती अर्थ :- शिबिका मां आरूढ थयेलो क्रमे करी ने विद्याधरी  
गणथी गवाता विविध प्रकारना श्रेष्ठ मंगल गवाता गीतोना समूहसाथे  
हुं त्यारे वर पासे पहुँच्यो।  
हिन्दी अनुवाद :- और शिविका में आरूढ़ मैं क्रम से विद्याधरीगण द्वारा श्रेष्ठमंगल  
गीतों के समूह के साथ वर के पास पहुँचा।

गाहा :- नभोवाहन एवं स्त्रीरूपधारक चित्रगतिनो विवाह  
लग्गे समागयम्मी गहिओ मह कर-यलो सहरिसेण ।  
नहवाहणेण, तत्तो कमेण वत्तो य वीवाहो ॥७५॥

संस्कृत छाया :-कैं

लग्ने समागते गृहीतो मम करतलः सहर्षेण ।  
नभोवाहनेन ततः क्रमेण वृत्तश्च विवाहः ॥७५॥

गुजराती अर्थ :- लग्न समय आवे छते नभोवाहने हर्षपूर्वक मारो हाथ  
ग्रहण कर्यो त्यार पछी क्रमे करीने विवाह थयो!।  
हिन्दी अनुवाद :- विवाह के समय पर नभोवाहन ने हर्ष सहित मेरा हाथ ग्रहण  
किया, बाद में क्रम से विधिपूर्वक विवाह हुआ!

गाहा :-

नहवाहणस्स पुरओ नट्टं विविहंगहार-सोहिल्लं ।  
पारब्धं वार-विलासिणीहिं वर-गेय-संवलियं ॥७६॥

संस्कृत छाया :-

नभोवाहनस्य पुरतो नाट्यं विविधाङ्गहार-शोभावद् ।  
प्रारब्धं वारविलासिनीभि-र्वरगेय-संवलितम् ॥७६॥

गुजराती अर्थ :- नभोवाहनराजानी आगळ वारांगनाओए विविध अंगो ना अभिनय साथे सुन्दर नाटक कर्युं। तेमज मधुर स्वर णडे केटलीक वारांगनाओ गीत गावा लागी।

हिन्दी अनुवाद :- नभोवाहन राजा के सामने वारांगनाओं ने शरीर के विभिन्न अंगों से सुंदर नाटक किया तब मधुर स्वर द्वारा कुछ वारांगनाएं गीत गा रही थीं।

गाहा :- युवतिद्वारा मुद्रा दर्शन

एत्थंतरम्मि एगा जुवई आगम्म कर-यलं निययं ।

मुहा-रयण-समेयं दंसइ मह सज्जसुप्फुण्णा ॥७७॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरैका युवती आगम्य करतलं निजकम् ।

मुद्रारत्न-समेतं दर्शयति मह्यं साध्वसापूर्णा ॥७७॥

गुजराती अर्थ :- एटलीवारमां भयपूर्ण हृदयवाली एक युवती आवी ने मुद्रारत्न सहित पोतानी हथेली मने बतावी।

हिन्दी अनुवाद :- इतनी देर में भयपूर्ण हृदयवाली एक युवती ने आकर मुद्रारत्न सहित अपनी हथेली मुझे दिखाई।

गाहा :-

तं ददुं चिंतियं मे एसा सा मज्ज संतिया मुहा ।

हत्थि-भय-मोइयाए जा गहिया तीए कन्नाए ॥७८॥

संस्कृत छाया :-

तद् दृष्ट्वा चिन्तितं मयैषा सा मम सत्-का मुद्रा ।

हस्तिभय-मोचितया या गृहीता तया कन्यया ॥७८॥

गुजराती अर्थ :- ते जोइ ने में विचार्युं आ ते मुद्रिका मारी छे के जे हाथी भय थी छोडायेली ते कन्याए ग्रहण करी हती।

हिन्दी अनुवाद :- उस मुद्रारत्न को देखकर मैंने सोचा, यह मुद्रिका तो मेरी है जो उस समय हाथी के भय से मुक्त की हुई कन्या से ग्रहण की थी।

गाहा :-

अइगुरुयं अंगुट्टिं मणयं ओसारिउं मए तत्तो ।

अवलोइया य एसा सहसा अह पच्चभिन्नाया ॥७९॥

संस्कृत छाया :-

अतिगुरुकमङ्गुलीयकं मनागपसार्य मया ततः ।

अवलोकिता चैषा सहसाऽथ प्रत्यभिज्ञाता ॥७९॥

गुजराती अर्थ :- अतिभारे मुद्रिकाने जराक काढीने में जोईने तरत ज ओळखी।

हिन्दी अनुवाद :- इस अति भारी मुद्रिका को थोड़ी-सी निकाल कर मैंने उसे देखकर, तुरन्त पहचान ली।

गाहा :-

एसा सा मह दइया हत्थि-भए जा विमोइया तइया ।

विहिणो निओगओ कह जाया हग्गावणापच्छं ॥८०॥

संस्कृत छाया :-

एषा सा मम दयिता हस्तिभये या विमोचिता तदा ।

विधेर्नियोगतः कथं जाता हतापदा पश्चात् ॥६९॥

गुजराती अर्थ :- आ ते मारी पत्नी छे जे हाथीना भय थी त्पारे छोडावाई हती, भाग्य योगे ते अपत्ति रहित थया पछी तेणीनु शुं थयुं?

हिन्दी अनुवाद :- यह मेरी पत्नी है जो उस समय हाथी के भय से मुक्त की गई, भाग्य योग से यह कन्या आपत्ति रहित हुई। पुनः बाद में क्या हुआ?

गाहा :-

पेच्छ अइदुग्घडंपि हु सहसा कह मज्झ दंसणं जायं? ।

अणुकूलो अहव विही किंवा तं जं नवि करेइ? ॥८१॥

संस्कृत छाया :-

पश्य अतिदुर्घटमपि खलु सहसा कथं मम दर्शनं जातम् ? ।

अनुकूलोऽथवा विधिः किं वा तद् यद् नापि करोति? ॥८१॥

गुजराती अर्थ :- अरे, जुवो अचानक मने आवु अत्यंत दुर्लभ दर्शन केवी रीते थइ गयुं। अथवा जुओ अनुकूल भाग्य जे न करे एवुं अहीं शुं छे?

हिन्दी अनुवाद :- अरे! देखिए अचानक ही मुझे इसके अत्यन्त दुर्लभ दर्शन कैसे हुए? अथवा भाग्य अनुकूल रहे तो वह क्या है, जो यहाँ न हो?

गाहा :-

एवं विचिंतित्ऊणं निदंसिओ निय-करो मए तीए ।

पुव्वं समप्पियाए तीए मुद्दाए संजुत्तो ॥८२॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्य निदर्शितो निजकरो मया तस्याः ।

पूर्वं समर्पितया तया मुद्रया संयुक्तः ॥८२॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे विचारीने में तेणीए पहेला समर्पित करेली मुद्रा वाणो पोतानो हाथ तेणीने बताव्यो!।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सोचकर मैंने उसके द्वारा पूर्व में समर्पित मुद्रायुक्त (अंगुठी युक्त) मैंने अपना हाथ उस बाला को दिखाया!

गाहा :-

कत्रे होउं तीए आसत्र-सहीय साहियं एयं ।  
अवनिहण दुखइ सीसं किर कणगमालाए ॥८३॥

संस्कृत छाया :-

कर्णे भूत्वा तयाऽऽसन्न सख्यै कथितमेतद् ।  
अपनिद्रकेण दुःखयति शीर्षं किल कनकमालायाः ॥८३॥

गुजराती अर्थ :- तेणीए कान पासे जईने सखी ने आ प्रमाणे कहयुं - के निद्राना अभाव थी कनकमालानुं माथु दुःखे छे।

हिन्दी अनुवाद :- तब उसने सखी के पास जाकर कान में कहा- नींद नहीं होने से कनकमाला को सिर में दर्द होता है।

गाहा :-

ता एसा खणमेगं असोग-वणियाइ सुवइ लग्गति ।  
तुम्हे एत्थ ठियाओ जहा-सुहं चेव अच्छाह ॥८४॥

संस्कृत छाया :-

तस्मादेषा क्षणमेकमशोकवनिकायां स्वपिति अघटमानमिति ।  
यूयमत्र स्थिता यथासुखं एवाऽऽदध्वम् ॥८४॥

गुजराती अर्थ :- तेथी क्षण एक अशोकवाटिकामां जईने आ खुअे छे आ खरेखर खोटु थयुं छे। तमे सुखपूर्वक अहीं ज बेसो।

हिन्दी अनुवाद :- अतः एक क्षण अशोकवाटिका में जाकर वह सोती है। यह अच्छा नहीं हुआ, इसलिए आप यहीं पर सुखपूर्वक बैठें!

गाहा :-

वत्ते पुण पेक्खणए जाणाविज्जाउ अम्ह सिग्घंति ।  
एवं भणितं तीए उट्ठविओ चित्तवेग! अहं ॥८५॥

संस्कृत छाया :-

वृत्तेः पुनः प्रेक्षणके ज्ञाप्यता-मस्माकं शीघ्रमिति ।  
एवं भणित्वा तया उत्थापितश्चित्रवेग! अहम् ॥८५॥

गुजराती अर्थ :- हे चित्रवेग! वळी आ नाटारंभ पूर्ण थये जब्दीथी अमने समाचार आपजो। आ प्रमाणे कहीने तेणीए मने उठाडयो।

हिन्दी अनुवाद :- हे! चित्रवेग! नाटारंभ पूर्ण होते ही शीघ्र ही हमको समाचार देना, इस प्रकार कहकर उसने मुझे वहाँ से उठाया।

गाहा :- चित्रगतिनुं अशोकवर्निकामां आगमन  
तत्तो तीए समयं पवर-घरुज्जाण-तिलय-भूयाए ।  
वियसंत-सुरहि-मंजरि-मयरंदामोय-सुहयाए ॥८६॥  
पत्तो रमणीयाए असोग-वणियाए सहरिसं तीए ।  
दित्रम्मि आसणम्मी उवविट्ठो, सावि मह पुरओ ॥८७॥

संस्कृत छाया :-

ततस्तया समं प्रवरगृहोद्यानतिलकभूतायाम् ।  
विकत्सुरभिमञ्जरी-मकरन्दा मोद-सुखदायाम् (शुभगायाम्) ॥८६॥  
प्राप्तो रमणीयायामशोकवनिकायां सहर्षं तया ।  
दत्ते आसने उपविष्टः साऽपि मे पुरतः ॥८७॥ युग्मम् ।  
गुजराती अर्थ :- त्यात् पछी तेणीनी साथे श्रेष्ठ वृक्षोथी शोभता गृहोद्यानमां  
तिलक समान, विकस्वर अने सुगंधित मंजरीओ ना मकरन्दथी सुगंधित,  
(शुभ) सुख ने आपनारी रमणीय अशोकवनिकामां पहोच्यो, तेणी वडे  
सहर्ष अपायेला आसन पर बेठी, तेणी पण मारी आगल बेठी!  
हिन्दी अनुवाद :- उसके बाद विकसित और सुगंधित मंजरीओं के मकरन्द से  
सुगन्धित, सुखदायक, श्रेष्ठ वृक्षों से सुन्दर गृह उद्यान में तिलक तुल्य, अशोक  
वाटिका में उसके साथ गया! उसके द्वारा हर्षपूर्वक अर्पित आसन पर मैं बैठा और  
वह भी मेरे सामने बैठी।

गाहा :-

अह सा सज्झस-भरिया जाहे न चएइ किंचि वज्जरिउं ।  
ताहे नियय-पउत्ती सव्वावि हु चित्तवेग! मए ॥८८॥  
पुव्वं जा तुह कहिया तीएवि हु सा मए समासेण ।  
कहिया य जाव इत्थं इत्थीरूवेण आयाओ ॥८९॥

संस्कृत छाया :-

अथ सा साध्वसभृता यदा न शक्नोति किञ्चित् कथयितुम् ।  
तदा निजकप्रवृत्तिः सर्वाऽपि खलु हे! चित्रवेग! मया ॥८८॥  
पूर्वं या ते कथिता तस्या अपि खलु सा मया समासेन ।  
कथिता च यावदत्र स्त्रीरूपेणाऽऽयातः ॥८९॥ युग्मम् ॥  
गुजराती अर्थ :- हवे डरथी भरेली ते ज्यारे काई पण कहेवा माटे समर्थ  
न बनी, त्यारे हे चित्रवेग! मैं सर्वे पण पोतानी प्रवृत्ति जे पहेला तने कही ते  
संक्षेपथी में तेणीने पण स्त्रीरूपने धारण करीने आवता सुधीनी खरेखर  
बधी वात कही।

**हिन्दी अनुवाद :-** अब डर से वह जब कुछ भी बोल सकी, तब हे चित्रवेग! मैंने मेरी सारी प्रवृत्ति उसे बता दी! मैंने पहले आपको जो बात कही थी वो तथा स्त्री रूप धारण करके आने तक की सभी प्रवृत्ति संक्षेप में कह सुनाई।

**गाहा :-**

सुन्दरि! तुज्झ विओगे गुरु-दुक्खं माणसं मए पत्तं ।

भमिओ तुज्झ निमित्ते सव्वेसु वि खयर-नयरेसु ॥१०॥

**संस्कृत छाया :-**

हे! सुन्दरि! ते वियोगे गुरुदुःखं मानसं मया प्राप्तम् ।

भ्रान्तस्ते निमित्ते सर्वेष्वपि खेचर नगरेषु ॥१०॥

**गुजराती अर्थ :-** हे सुन्दरि ! तारा वियोगमां में मानसिक घणुं दुःख

प्राप्त कर्युं छे अने तारा निमित्ते हुँ बधा ज विद्याधरनगरमां भग्यो!

**हिन्दी अनुवाद :-** हे सुन्दरी! तेरे वियोग से मुझे बहुत ही मानसिक परिताप हुआ है, तथा तेरे लिए ही मैं सभी विद्याधरनगरों में आज तक घूमा हूँ।

**गाहा :-**

ता लज्जं मोत्तूण साहसु किं तुज्झ नामधेयं ति ।

कम्मि कुले तुह जम्मो किं वा नामं तु ते पिउणो? ॥११॥

**संस्कृत छाया :-**

तर्हि लज्जां मुक्त्वा कथय किं तव नामधेयमिति ।

कस्मिन् कुले ते जन्म, किं वा नाम तु ते पितुः ॥११॥

**गुजराती अर्थ :-** तो लज्जा छोड़ी ने तारुं नाम मने बताव! तारो जन्म

क्या कुलमां थयो छे अने तारा पितानुं नाम शुं छे?

**हिन्दी अनुवाद :-** अतः लज्जा को छोड़कर तेरा नाम मुझे बता, कौन से कुल में तेरा जन्म हुआ तथा तेरे पिताजी का क्या नाम है? यह सभी चीज मुझे बता!

**गाहा :-**

कहवि पुरे इह पत्ता पभूय-लोयस्स मज्झयारम्मि ।

इत्थीरूवोवि अहं विन्नाओ सुयणु! कह तुमए? ॥१२॥

**संस्कृत छाया :-**

कथमपि पुरे इह प्राप्ता प्रभूत लोकस्य मध्ये ।

स्त्रीरूपोप्यहं विज्ञातः स्रुतनो! कथं त्वया? ॥१२॥

**गुजराती अर्थ :-** वली आ नगरमां तुं केवी रीते आवी, तथा हे सुन्दरि

लोको वच्चे स्त्रीरूपवा मने तैं केवी रीते ओळख्यो?

**हिन्दी अनुवाद :-** तथा नगर में कैसे आयी? और स्त्री-रूपधारी मुझे तूने किस तरह से लोगों के बीच में भी पहचाना?



गाहा :-

एवं च मए भणिया कहवि हु उज्झित्तु सज्झस बाला ।

मणयं खलंत-वयणा अह एवं भणितुमाढत्ता ॥९३॥

संस्कृत छाया :-

एवं च मया भणिता कथमपि खलूज्झित्वा साधवसं बाला ।

मनाक् स्वखलद् - वचनाऽथैवं भणितुमारब्धा ॥९३॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे मारा कहेवाथी बालाए केमे करी ने भय ने छोडी ने जरा लथडता वचन द्वारा आ प्रमाणे कहेवा माटे आरंभ कर्यो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार मेरे कहने पर प्रयत्नपूर्वक भय को छोड़कर उस बाला ने जरा अस्पष्ट वचन द्वारा इस प्रकार कहना आरंभ किया।

गाहा :- युवति वृत्तांत

आयन्नसु मण-वल्लह! कहेमि सव्वंपि जं तुमे पुट्टं।

तुम्ह सुप्रसिद्धमेव हि नयरं सुरनंदणं ताव ॥९४॥

संस्कृत छाया :-

आकर्णय हे! मनोवल्लभ! कथयामि सर्वमपि यत् त्वया पृष्टम् ।

ते सुप्रसिद्धमेव हि नगरं सुरनन्दनं तावद् ॥९४॥

गुजराती अर्थ :- हे मनोवल्लभ! तमे जे पूछयुं ते बधु ज हुं तमने कहुं छुं, ते सांभलो सुरनन्दन नाम नुं सुप्रसिद्ध नगर छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे! मनोवल्लभ! आप ने जो कुछ पूछा, वह सभी मैं कहती हूँ, आप- सुनिए। सुरनन्दन नाम का सुप्रसिद्ध नगर है।

गाहा :-

तत्थासि सुविक्खाओ पहंजणो नाम खयर-रायत्ति ।

तस्स य पवरो मंती अइकुसलो नीइ-सत्थेसु ॥९५॥

पहुणो य दढं भत्तो बुद्धीए चउव्विहाए संपन्नो ।

रत्तो विस्सास-पयं आसि पुरा मेहनाउत्ति ॥९६॥ युग्मम् ।

संस्कृत छाया :-

तत्राऽऽसीत् सुविख्यातः प्रभञ्जनो नाम खेचरराजैति ।

तस्य च प्रवरो मन्त्री अतिकुशलो नीतिशास्त्रेषु ॥९५॥

प्रभोश्च दृढं भक्तो बुद्ध्या चतुर्विधया सम्पन्नः ।

राज्ञो विश्वासपदमासीत् पुरा मेघनाद इति ॥९६॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- ते नगरमां सारी रीते प्रसिद्धि पामेलो प्रभंजन नाम नो विद्याधरोनो राजा छे तेने नीतिशास्त्र मां अतिकुशल, प्रभु नो परम

भक्त, चार प्रकार नी बुद्धि वालो, राजा नो विश्वासपात्र, मेघनाद नामनो श्रेष्ठ-मन्त्री छे।

**हिन्दी अनुवाद :-** उस नगर में सुन्दर प्रसिद्धि को पाया हुआ प्रभञ्जन नामक विद्याधरो का राजा है, जिसका नीतिशास्त्र में अतिकुशल, प्रभु का परम भक्त- चार प्रकार की बुद्धि से युक्त, राजा का विश्वासपात्र। मेघनाद नाम का श्रेष्ठ मन्त्री है।

**गाहा :-**

तस्स य घरिणी पवरा पड़-व्वया रूव-संवया-कलिया ।

उत्तम-कुल-प्पसूया इंदुमई नाम आसित्ति ॥१७॥

**संस्कृत छाया :-**

तस्य च गृहिणी प्रवरा-पतिव्रता रूप-सम्पत् कलिता ।

उत्तमकुलप्रसूता इन्दुमतिर्नामासीदिति? ॥१७॥

**गुजराती अर्थ :-** अने तेने श्रेष्ठ, रूप-सौंदर्य थी शोभती, उत्तमकुलमां उत्पन्न थयेली, पतिव्रता एवी इन्दुमति नामनी पत्नी छे।

**हिन्दी अनुवाद :-** और उसकी श्रेष्ठ रूप-सौन्दर्य से सुशोभित उत्तमकुल में उत्पन्न पतिव्रता इन्दुमति नाम की पत्नी है।

**गाहा :-**

तीए सह विसय-सोक्खं निसेवमाणस्स मेहेनायस्स ।

जाओ सुओ सुरूवो नामेणं असणिवेगोत्ति ॥१८॥

**संस्कृत छाया :-**

तया सह विषयसौख्यं निसेवमानस्य मेघनादस्य ।

जातः सुतः सुरूपो नाम्ना अशनिवेग इति ॥१८॥

**गुजराती अर्थ :-** तेणीनी साथे विषयसुखने सेवता मेघनादने अत्यंत रूपवान् अशनिवेग नामनो पुत्र थयो।

**हिन्दी अनुवाद :-** उसके साथ विषयसुख का सेवन करते हुए मेघनाद को अत्यंत रूपवान् अशनिवेग नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

**गाहा :-**

अब्भसिय-कला-नियरो साहिय-विज्जो गुणाण आवासो ।

जणयाण कयाणंदो कमसो सो जोव्वणं पत्तो ॥१९॥

**संस्कृत छाया :-**

अभ्यसितकलानिकरः साधितविद्यो गुणानामावासः ।

जनकानां कृतानन्दः क्रमशः स यौवनं प्राप्तः ॥१९॥

**गुजराती अर्थ :-** विद्याधर उचित कलाओना समूह ने शीखेलो, सिद्ध विद्यावान्, अणगण ना स्थान रूप (माता) पिता ने आनंद आपनार क्रमशः युवान् थयो।

**हिन्दी अनुवाद :-** विद्याधरोचित कला-समूह से शिक्षित, सिद्ध विद्यावाला, गुणगणो के आवास तुल्य पिता को आनन्द देने वाला क्रमशः यौवन को पाया।

**गाहा :-**

एत्तो य दक्खिणाए इमीए सेढीए कुंजरावत्ते।

एयम्मि चेव नयरे चंदगई आसि वर-खयरो ॥१००॥

**संस्कृत छाया :-**

इतश्च दक्षिणायामस्यां श्रेण्यां कुञ्जरावर्ते ।

एतस्मिन्नेव नगरे चन्द्रगतिरासीद् वरखेचरः ॥१००॥

**गुजराती अर्थ :-** (आ बाजु) आ दक्षिण श्रेणिमां आज कुंजरावर्तनगरमां चन्द्रगति नामनो श्रेष्ठ विद्याधर छे।

**हिन्दी अनुवाद :-** इस तरफ दक्षिण श्रेणि में इसी कुञ्जरावर्त नगर में चन्द्रगति नाम का श्रेष्ठ विद्याधर है।

**गाहा :-**

तस्स य मण-वल्लहिया महिला नामेण मयणरेहत्ति ।

कालेण ताण पुत्तो अमियगई नाम संजाओ ॥१०१॥

**संस्कृत छाया :-**

तस्य च मनोवल्लभिका महिला नाम्ना मदनरेखेति ।

कालेन तयोः पुत्रोऽमितगति नाम सञ्जातः ॥१०१॥

**गुजराती अर्थ :-** तेने मनवल्लभ मदनरेखा नामनी पत्नी छे. कालक्रमे ते बच्चे ने अमितगति नामनो पुत्र थयो।

**हिन्दी अनुवाद :-** उसकी मनोवल्लभ मदनरेखा नाम की पत्नी है, कालक्रम से उन को अमितगति नाम का पुत्र हुआ।

**गाहा :-**

धूया चंपय-गोरा चंपयमालत्ति तदणुसंजाया ।

पत्ता य जोव्वणं सा विज्जाहर-कुमर-मण-हरणं ॥१०२॥

**संस्कृत छाया :-**

दुहिता चम्पकगौरा चम्पकमालेति तदनुसञ्जाता ।

प्राप्ता च यौवनं सा विद्याधरकुमार-मनोहरणम् ॥१०२॥

**गुजराती अर्थ :-** तेना पछी चम्पक ना पुष्प जेवी उज्ज्वलवर्णवाली चम्पकमाला नामनी पुत्री थई, अने ते विद्याधर कुमारोना मन ने हरनार यौवन ने पामी।

**हिन्दी अनुवाद :-** तत्पश्चात् चम्पक के पुष्प जैसी उज्ज्वल वर्णवाली चम्पकमाला नाम की पुत्री हुई और उसने विद्याधर कुमारों के मन को हरनेवाले यौवन को पाया।

गाहा :-

अह सा चंपगमाला वरिया सुरनंदणम्मि नयरम्मि ।

मंति-सुय-असणिवेगस्स, सायरं तेण परिणीया ॥१०३॥

संस्कृत छाया :-

अथ सा चम्पकमाला वृत्ता सुरनन्दने नगरे ।

मन्त्रिसुताऽशनिवेगस्य सादरं तेन परिणीता ॥१०३॥

गुजराती अर्थ :- हवे ते चम्पकमाला सुरनन्दन नगरमां मन्त्री पुत्र अशनिवेगने वरीं अने ते पण आदरपूर्वक परण्यो ।

हिन्दी अनुवाद :- उस चम्पकमाला का विवाह सुरनन्दन नगर के मन्त्रीपुत्र अशनिवेग के साथ आदर सहित हुआ ।

गाहा :-

नीया नियए नयरे सह तीए सो विसाल नयणाए ।

पर-पीईए जुत्तो भुंजइ माणुस्सए भोगे ॥१०४॥

संस्कृत छाया :-

नीता निजके नगरे सह तथा स विशालनयनया ।

पराप्रीत्या युक्तो भुनक्ति मानुष्यान् भोगान् ॥१०४॥

गुजराती अर्थ :- पछी पोताना नगरमां लई जवाइ अने विशालनयनवाली तेणीनी साथे श्रेष्ठ प्रीति थी युक्त ते (अशनिवेग) मनुष्यसंबंधी भोगोने भोगवती हतो !

हिन्दी अनुवाद :- बाद में अपने नगर में ले आने पर उसने विशालनयन चम्पकमाला के साथ श्रेष्ठ प्रीति से मनुष्य संबंधी विषयों का सेवन किया ।

गाहा :-

अह अन्नया कयाइवि मंति-पयं देवि असणिवेगस्स ।

नियय-तणयस्स तत्तो विरत्त-चित्तो महा-सत्तो ॥१०५॥

रत्ता पहंजणेणं सहिओ संजाय-गरुय-संवेगो ।

सुगुरूण पाय-मूले पव्वइओ मेहनाओ सो ॥१०६॥ युग्मम् ।

संस्कृत छाया :-

अथान्यदा कदाचिदपि मन्त्रिपदं दत्त्वाऽशनिवेगाय ।

निजक-तनयाय ततो विरक्तचित्तो महासत्त्वः ॥१०५॥

राज्ञा प्रभञ्जनेन सहितः सञ्जातगुरूकसंवेगः ।

सुगुरूणां पादमूले प्रव्रजितो मेघनादः सः ॥१०६॥ युग्मम् ।

गुजराती अर्थ :- हवे एक वखत पोताना पुत्र अशनिवेगने मन्त्रीपद आपी ने विरक्त चित्तवालो, महासात्त्विक, उत्पन्न थयेला अतिशुद्ध संवेगवाला मेघनादे प्रभञ्जनराजा साथे सद्गुरुना चरणोमां दीक्षा ग्रहण करी !

**हिन्दी अनुवाद :-** अब एक समय महासात्विक, विरक्तचित्त वाले, उत्पन्न हुए अत्यंत शुद्ध संवेग वाले मेघनाद ने अपने पुत्र अशनिवेग को मन्त्रीपद देकर प्रभंजन राजा के साथ सद्गुरु के चरण में दीक्षा स्वीकार किया।

**गाहा :-** अशनिको - चंपकमालाने पां. पुत्र  
खयरो वि असणिवेगो चंपगमालाए हियय-दइयाए ।  
समयं गिह-वास-फलं अणुहवई विसय-सोक्खंति ॥१०७॥

**संस्कृत छाया :-**

खचरोप्यशनिवेगश्चम्पकमालया हृदयदयितया ।  
समकं गृहवासफलमनुभवति विषयसौख्यमिति ॥१०७॥

**गुजराती अर्थ :-** अशनिवेग विद्याधर पण प्राणप्रिया चम्पकमालानी साथे गृहवासना फल स्वरूप विषयसुखने अनुभवे छे।

**हिन्दी अनुवाद :-** अशनिवेग विद्याधर भी प्राणप्रिया चम्पकमाला के साथ गृहवास के फलस्वरूप विषयसुख का अनुभव करता है।

**गाहा :-**

अह चंपगमालाए कमेण पुत्ता ओ पंच उप्पन्ना ।  
ताणं पिययम! निसुणसु कमेण एयाइं नामाइं ॥१०८॥

**संस्कृत छाया :-**

अथ चम्पकमालायाः क्रमेण पुत्रास्तु पंचोत्पन्नाः ।  
तेषां प्रियतम! निःशृणु क्रमेण एनानि नामानि ॥१०८॥

**गुजराती अर्थ :-** हवे चम्पकमालाने क्रमपूर्वक पांच पुत्रो उत्पन्न थया, तेओना आ प्रमाणे नामो छे ते हे प्रियतम! तमे सांभलो!

**हिन्दी अनुवाद :-** फलस्वरूप चम्पकमाला को क्रम से पांच पुत्र हुए। हे प्रियतम! उन पुत्रों के नाम आप इस क्रम से सुनिए।

**गाहा :-**

वज्जगई वाउगई चंदो तह चंदणो सुसीहो य ।  
पंचणहं पुत्ताणं उवरिं धूया अहं जाया ॥१०९॥

**संस्कृत छाया :-**

वज्रगति-वायुगतिश्चन्द्रस्तथा चन्दनः सुशीखश्च ।  
पञ्चानां पुत्राणामुपरि दुहिताऽहं जाता ॥१०९॥

**गुजराती अर्थ :-** वज्रगति, वायुगति, चन्द्र, चन्दन अने सुशीख आ पांच पुत्रोनी उपर हुं पुत्री थईं!

**हिन्दी अनुवाद :-** वज्रगति, वायुगति, चन्द्र, चन्दन और सुशीख इन पांच पुत्रों के पश्चात् मैं पुत्री हुई।

गाहा :- पुत्रिजन्म - पयंगुमंजरीनाम

जम्म-दिणे मह पिउणा सुय-जम्म-महूसवाओ अब्भहिओ ।

काराविओ सहरिसं महोच्छवो गरुय-नेहेण ॥११०॥

संस्कृत छाया :-

जन्मदिने मे पित्राभ्यां सुतजन्ममहोत्सवादभ्यधिकः ।

कारापितः सहर्षं महोत्सवो गुरुकस्नेहेन ॥११०॥

गुजराती अर्थ :- मारा जन्म दिवसे पुत्रजन्म महोत्सव करतां पण अधिक महोत्सव अतिस्नेह युक्त-पिताए हर्ष सहित कराव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- मेरे जन्म दिन पर पुत्र जन्म के महोत्सव से भी अधिक महोत्सव हर्ष सहित अतिस्नेह से पिताजी ने करवाया।

गाहा :-

वत्ते य बारसाहे नामं तू पियंगुमंजरी मज्झ ।

विहियं कमेण अहयं देहेवचएण वडुंता ॥१११॥

जणयाण कयाणंदा लालिज्जंता य धाइ-पणगेण ।

पत्ता कुमारि-भावं कय-परियण-लोयणाणंदा ॥११२॥

संस्कृत छाया :-

वृत्ते च द्वादशाहिन नाम तु प्रियङ्गुमञ्जरी मे ।

विहितं क्रमेणाहं देहोपचयेन वर्धमाना ॥१११॥

जनकानां कृतानन्दा लाल्यमाना च धात्री-पञ्चकेन ।

प्राप्ता कुमारीभावं कृतपरिजन-लोचना-नन्दा ॥११२॥

गुजराती अर्थ :- बार दिवस पूर्ण थये मारू नाम प्रियंगुमंजरी पाडयुं, अने क्रमथी देहना अवयवो नी साधे वधती, माता-पिता ने आनन्द आपती, पांच धाव माताओ वडे लालन पालन कराती, दास जनोनी आंखोने आनंद आपती एवी हूँ कुमारीभाव ने पामी!

हिन्दी अनुवाद :- बारह दिन पूर्ण होने पर मेरा नाम प्रियंगुमंजरी रखा गया और क्रम से देह की वृद्धि के साथ बढ़ती तथा माता-पिता को आनन्द देती पांच धाय माताओं से पालित, दासजन वर्ग की प्रीतिपात्र ऐसी मैं कुमारी अवस्था में आयी।

गाहा :-

जुवई-जण-जोग्गाओ नट्टाईया कलाओ सयलाओ ।

गहियाओ कमेण तओ पत्ता हं जोक्वणं पढमं ॥११३॥

संस्कृत छाया :-

युवतिजनयोग्या नाट्यादयः कलाः सकलाः ।

गृहीताः क्रमेण ततः प्राप्ताऽहं यौवनं प्रथमम् ॥११३॥

गुजराती अर्थ :- युवतिजनने योग्य नाट्यादि बधी कलाओ क्रमथी में शीखी लीधी, अने तयार पछी हुं प्रथम यौवन पामी।

हिन्दी अनुवाद :- युवतियों के योग्य नाट्यादि सभी कलाएँ क्रम से मैंने सीख ली। तत्पश्चात् मैं प्रथम यौवन में आयी।

गाहा :-

सुसिणिद्ध-सही-सहिया रमामि विविहासु तत्थ कीलासु।

वर-चित्त-पत्त-छिज्जय-नच्चण-गंधव्व-वीणासु ॥११४॥

संस्कृत छाया :-

सुस्निग्ध-सखीसहिता रमे विविधाषु तत्र क्रीडासु।

वरचित्र-पत्र-छेद्यक-नर्तन-गान्धर्व-वीणासु ॥११४॥

गुजराती अर्थ :- ते यौवन दरम्यान गाढ रूनेहवाळी सखीओनी साथे उत्तम चित्र, पत्र छेद्य, नर्तन, गांधर्वविद्या अने वीणावादनादि विविध क्रीडाओ करती हती।

हिन्दी अनुवाद :- उस यौवन में स्नेहान्वित सखियों के साथ उत्तम चित्र, पत्रछेद्य, नर्तन, गान्धर्वविद्या और वीणा वादन आदि अनेक क्रीडाएँ करती थी।

गाहा :-

तत्थ य पिययम! अहयं सहावओ पुरिस-वेसिणी जाया।

वरया य मज्झ बहवे इंति तहिं खयर-पवराण ॥११५॥

संस्कृत छाया :-

तत्र च प्रियतम ! अहं स्वभावतः पुरुषद्वेषिणी जाता।

वरकाश्च मे बह्व आयन्ति तत्र खेचरप्रवराणाम् ॥११५॥

गुजराती अर्थ :- अने हे प्रियतम ! हूँ स्वभावथी ज पुरुषद्वेषिणी थी। मने वरवा माटे घणा श्रेष्ठ विद्याधरो आववा लाग्या!

हिन्दी अनुवाद :- तथा हे प्रियतम ! मैं स्वभाव से ही पुरुषद्वेषिणी बनी। मेरे साथ विवाह करने बहुत सारे श्रेष्ठ विद्याधर आने लगे।

गाहा :-

वर-रूव-कला-रिन्धीओ तेसिं, जणओवि मज्झ साहेइ।

न य कत्थवि मह इच्छा जायइ तो ते निवारेइ ॥११६॥

संस्कृत छाया :-

वररूपकलाद्द्रयस्तेषां जनकोऽपि मे वदति।

न च कुत्रापि मम इच्छा जायते ततस्तान् निवारयति ॥११६॥

गुजराती अर्थ :- पिताजी पण माटी पासो तेओनी रूप कला ऋद्धिनुं वर्णन करता हता, पण मारू मन कोईना विषे पण न लाग्यु, तेथी तेओने पाछा वाळ्या!

**हिन्दी अनुवाद :-** पिताजी उन विद्याधर कुमारों के रूप, कला एवं ऋद्धि का वर्णन करते थे। किन्तु मेरा दिल किसी में नहीं लगने से सभी को लौटा दिए थे।

**गाहा :-**

जो जो आवड़ वरओ तं तं नेच्छामि जावय अहं तु।

ताहे य असणिवेगो मज्झ पिया सोयमावन्नो ॥११७॥

**संस्कृत छाया :-**

यो यो आयाति वरस्तं तं नेच्छामि यावत् चाहन्तु।

तदा चाऽशनिवेगो मे पिता शोकमापन्नः ॥११७॥

**गुजराती अर्थ :-** जेटला जेटला वर आवता ते ते बधा ने हुं इच्छती न हती तेथी मारा पिता अशनिवेग शोकातुर थया।

**हिन्दी अनुवाद :-** जो भी पुरुष विवाह के लिए आते थे वे मुझे पसंद नहीं आते थे, अतः मेरे पिताजी (अशनिवेग) शोकग्रस्त हो गये।

**गाहा :-**

ददतूण तं ससोगं चंपगमाला उ भणइ निय-दइयं ।

कीस ससोगो सामिय! दीससि चिंताउरो धणियं? ॥११८॥

**संस्कृत छाया :-**

दृष्ट्वा तं सशोकं चम्पकमाला तु भणति निजदयितम्।

कस्मात् सशोकः स्वामिन् ! दृश्यसे चिन्तातुरो गाढम् ॥११८॥

**गुजराती अर्थ :-** चम्पकमाला पोतानापतिने शोक सहित जोईने कहे छे हे! स्वामिन्! आप कया कारणथी अत्यन्त शोकयुक्त अने चिन्तातुर देखाव छे?

**हिन्दी अनुवाद :-** चम्पकमाला अपने स्वामी को शोकयुक्त देखकर कहती है, हे स्वामिन्! आप किस हेतु अत्यंत शोक सहित एवं चिंतायुक्त दिखाई दे रहे हैं?

**गाहा :-**

तत्तो य तेण भणियं मह धूया ताव जोव्वणं पत्ता।

न य इच्छइ किंपि वरं सुंदरि! गरुई इमा चिंता ॥११९॥

**संस्कृत छाया :-**

ततश्च तेन भणितं मे दुहिता तावद् यौवनं प्राप्ता।

न चेच्छति कमपि वरं सुन्दरि! गुर्वीयं चिन्ता ॥११९॥

**गुजराती अर्थ :-** त्यारे तेणे कहयुं - हे सुन्दरि मारी पुत्री हवे यौवन ने पामी छे। अने ते एके वर ने पसंद करती नथी ए ज मोंटी चिन्ता छे!

**हिन्दी अनुवाद :-** तब उसने कहा - मेरी पुत्री अब यौवन को प्राप्त हुई है और वह एक भी पुरुष पसंद नहीं करती है, अतः हे सुन्दरी! यही मेरी बड़ी चिन्ता है।



गाहा :-

धूया जोव्वण-पत्ता वर-रहिया कुल-हरम्मि वसमाणा ।

तं किंपि कुणइ कज्जं लहइ कुलं मइलणं जेण ॥१२०॥

संस्कृत छाया :-

दुहिता यौवन-प्राप्ता वररहिता कुलगृहे वसन्ती ।

तत् किमपि करोति कार्यं लभते कुलं मलीनतां येन ॥१२०॥

गुजराती अर्थ :- यौवनेने प्राप्त, पति वगरनी छोकरी घरमां रही अयोग्य कांई पण कार्य करे तो तेथी कुल मलीनता ने पावे।

हिन्दी अनुवाद :- यौवन को प्राप्त, शादी किए बिना लड़की घर में रहकर कुछ अयोग्य कार्य कर बैठे तो अपना कुल मलिनता को प्राप्त हो सकता है।

गाहा :-

को होज्ज वरो धूयाए हंदि! मण-इच्छित्ति चिंताए ।

सुंदरि! न एइ निद्दा रयणीएवि मह पसुत्तस्स ॥१२१॥

संस्कृत छाया :-

को भवेद् वरो दुहितु ह्येन्दु मन इच्छित इति चिन्ताया ।

सुन्दरि ! नैति निद्रा रजन्यामपि मे प्रसुप्तस्य ॥१२१॥

गुजराती अर्थ :- आ दीकरीनो मनोवल्लभ भर्तार कोण हथो? ए चिन्तामां हे सुन्दरि! सुवा छतां मने रात्रे पण उँघ नथी आवती!

हिन्दी अनुवाद :- इस बेटी का मनोवल्लभ पति कौन होगा? हे सुन्दरी! इस चिन्ता से रात्रि में सोने पर भी मुझे नींद नहीं आती है।

गाहा :-

एयं निसम्म वयणं चंपगमालावि ताहि मे जणणी ।

मज्झ निमित्ते सुंदर! जाया सोगाउरा धणियं ॥१२२॥

संस्कृत छाया :-

एवं निशम्य वचनं चम्कमालापि तदा मे जननी ।

मन्निमित्ते सुन्दर! जाता शोकातुरा अत्यन्तम् ॥१२२॥

गुजराती अर्थ :- पिताजीना आ प्रमाणेना वचन सांभलीने त्यारे मारी माता पण मारा कारणे हे सुन्दर! अत्यंत शोकातुर थई!

हिन्दी अनुवाद :- हे सुन्दर! पिताजी के ऐसे वचन सुनकर मेरी माता भी मेरे लिए अत्यंत शोक करने लगी!

गाहा :-

अन्न-दिणम्मि पिय-सही पभाय-समयम्मि धारिणी-नामा ।

सुज्जापहस्स धूया समागथा मज्झ पासम्मि ॥१२३॥

संस्कृत छाया :-

अन्यदिने प्रियसखी प्रभातसमये धारिणी-नामा ।

सूर्यप्रभस्य दुहिता समागता मत्-पार्श्वे ॥१२३॥

गुजराती अर्थ :- त्याच पत्नी अन्य दिवसे सूर्यप्रभनी पुत्री धारिणी नाम्नी प्रिय सखी मारी पास आती।

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् अन्य दिन सूर्यप्रभ की पुत्री धारिणी मेरी प्रिय सखी मेरे पास आयी।

गाहा :-

भणइ य किमज्ज पिय-सहि! हियव्व विक्कयव्व वुन्नव्व ।

दीससि अन्न-मणा विव विहाण-मुहा ससोगिल्ला ॥१२४॥

संस्कृत छाया :-

भणति च किमद्य प्रियसखे! हृतेव विकृतेव भीतेव ।

दृश्यसे अन्यमना इव विद्राणमुखा सशोकवती ॥१२४॥

गुजराती अर्थ :- अने मने पूछयुं; हे ! प्रिय सखी ! तूं आज्ञे जाणे अपहरण करतायेली, विकारने पामेली, भयभीत थयेली, शून्यमनस्कवाली, शोकवाली अने करमायेला मुखवाली केम देखाय छे?

हिन्दी अनुवाद :- और मुझसे पूछा, हे प्रिय सखी! तुम आज मानो अपहरण की गई, विकार को पाई हुई, भयभीत, शून्यचित्त वाली, शोकयुक्त और मुरझाये हुए मुखवाली लगती हो?

गाहा :-

चिर-आगयावि पिय-सहि! कीस न संभासिया अहं तुमए? ।

ता भणसु सोग-कारणमेयं जं तुज्झ संजायं? ॥१२५॥

संस्कृत छाया :-

चिरमागतापि प्रियसखे ! कस्माद् न सम्भाषिताऽहं त्वया? ।

ततो भण शोककारण - मेतद् यत्ते सज्जातम् ॥१२५॥

गुजराती अर्थ :- हे प्रिय सखी ! घणा समये हुं आती होवा छतां तें मने केम न बोलाती? तेथी तारा शोकनुं कारण जे थयुं होय ते तूं मने कहे?

हिन्दी अनुवाद :- प्रिय सखी! बहुत दिनों के बाद तेरे पास आने पर भी तू मुझे क्यों बुलाती नहीं हो? तेरे शोक का कारण जो है वह मुझे बताओ।

गाहा :-

एवं च पिय-सहीए भणियाए मए तया समुल्लवियं ।

सम्ममुवलक्खियं ते धारिणि! निसुणेसु वुत्तं ॥१२६॥

संस्कृत छाया :-

एवं च प्रियसख्या भणितया मया तदा समुल्लापितम् ।

सम्यगुपलक्षितं त्वया धारिणि ! निःशृणु वृत्तान्तम् ॥१२६॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे प्रिय सखीए 'कहयुं तयारे में कहयुं', हे धारिणी! तें साची रीते जाण्युं छे, तो तूं हवे वृत्तांत ने सांभळा।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार सखी के कहने पर मैंने कहा - हे धारिणी! तूने अच्छी तरह से मुझे जान लिया है अतः तू वृत्तांत सुन ले।

गाहा :-

तुज्झेहिं समं पिय-सहि! कीलित्ता ता वियाल-समयम्मि ।

नाणाविह-कीलाहिं समागया नियय-गेहम्मि ॥१२७॥

संस्कृत छाया :-

युष्माभिः समं प्रियसखे ! क्रीडित्वा तदा विकालसमये ।

नानाविध-क्रीडाभिः समागता निजकगृहे ॥१२७॥

गुजराती अर्थ :- हे प्रिय सखी ! तयारे ताची साथे विविध क्रीडाओ रमी ने संध्या समये हुं मारा घेर आवी।

हिन्दी अनुवाद :- हे प्रिय सखी! तब तेरे साथ विविध प्रकार की क्रीड़ा करके संध्या समय पर मैं अपने घर आई।

गाहा :- प्रियंगुमंजरीनुं रात्रिमां दिव्य दुंदुभि श्रवण

उवरिम-भूमौ ततो नाणा-मणि-रयण-हेम-मइयम्मि ।

पल्लंके पासुत्ता पवराए हंसतुलीए ॥१२८॥

संस्कृत छाया :-

उपरिम भूमौ ततो नानामणिरत्नहेममये ।

पर्यङ्के प्रसुप्ता प्रवरायां हंसतुलिकायाम् ॥१२८॥

गुजराती अर्थ :- तयार पळी महेलनी उपरनी भूमि पर विविध प्रकार-ना मणि-रत्न अने सुवर्णमय पलंगमां, श्रेष्ठ गादी पर हुं सुई गई!

हिन्दी अनुवाद :- बाद में महल की छत पर विविध प्रकार के मणिरत्न और सुवर्णमय पलंग में श्रेष्ठ बिस्तर पर मैं सो गई।

गाहा :-

अह अङ्ग-रत्त-समए दुंदुहि-सहं सुणित्तु पडिबुद्धा ।

पिच्छामि गयण-मगं दिव्व-विमाणोहिं संकिन्नं ॥१२९॥

संस्कृत छाया :-

अथार्धरात्रिसमये दुन्दुभिशाब्दं श्रुत्वा प्रतिबुद्धा ।

प्रेक्षे गगनमार्गं दिव्यविमानैः सङ्कीर्णम् ॥१२९॥

**गुजराती अर्थ :-** हवे त्यारे अर्धरात्रिना समये दुंदुभिना शाब्दने सांभलीने जागेली एवी में दिव्यविमानोथी सांकडो बनेल गगन मार्ग जोयो!

**हिन्दी अनुवाद :-** तब अर्धरात्रि बीतने पर दुंदुभि की ध्वनि को सुनकर जागृत हुई मैंने दिव्य विमानों से संकुचित बने गगनमार्ग को देखा।

**गाहा :-**

दट्ठूण देव-निवहं उज्जोइय-गयण-मंडलं तत्थ ।

सुर-सुंदरि-गण-सहियं चिंता मे एरिसा जाया ॥१३०॥

**संस्कृत छाया :-**

दृष्ट्वा देवनिवहमुद्योतित-गगनमण्डलं तत्र ।

सुरसुन्दरीगणसहितं चिन्ता ममेदृशा जाता ॥१३०॥

**गुजराती अर्थ :-** त्यां गगनमण्डलने पण झगमगावनार, देवांगनाओ साथनी देवताना समूह जोई मने आवा प्रकारनो विचार आव्यो।

**हिन्दी अनुवाद :-** वहाँ गगनमण्डल को भी जगमगाता एवं देवांगना से युक्त देवगण को देखकर मुझे ऐसा विचार आया।

**गाहा :-**

कत्थेरिसाइं मन्ने दिव्व-विमाणाइं दिट्ठ-पुव्वाइं ।

एवंविहा य देवा देवीओ कत्थ दिट्ठाओ ॥१३१॥

**संस्कृत छाया :-**

कुत्रेदृक्षाणि मन्ये दिव्यविमानानि दृष्टपूर्वाणि ।

एवंविधाश्च देवा देव्यः कुत्र दृष्टाः ? ॥१३१॥

**गुजराती अर्थ :-** मने लागे छे, के आवा प्रकारना दिव्यविमानो पहेला क्यांक जोया छे? अने आवा प्रकारना देव-देवीओं क्यांक जोया छे?

**हिन्दी अनुवाद :-** मुझे लगता है कि इस प्रकार के दिव्य विमान मैंने पहले कभी कहीं देखे हैं तथा इस प्रकार के देव-देवी भी कहीं देखे हैं।

**गाहा :-** प्रियंगुमंजरीने जातिस्मरण

एवं विचिंतयंती पिय-सहि! मुच्छा-वसं अहं पत्ता ।

मुच्छा-विरमे ततो जाई-सरणं समुप्यन्नं ॥१३२॥

**संस्कृत छाया :-**

एवं विचिन्तयन्ती प्रिय-सखे! मूर्च्छावश-महं प्राप्ता ।

मूर्च्छा-विरमे ततो जाति-स्मरणं समुत्पन्नम् ॥१३२॥

**गुजराती अर्थ :-** हे प्रियसखी! आ प्रमाणे विचार करती हुं मूर्च्छा पायी, त्यार पछी भानमां आवी त्यारे जातिस्मरण उत्पन्न थयु!

**हिन्दी अनुवाद :-** इस प्रकार सोचते-सोचते मुझे मूर्च्छा आ गई। तत्पश्चात् हे! प्रिय सखी! मूर्च्छा दूर होने पर जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।

गाहा :-

संभरिया पुव्व-भवा दोत्रि मए मणुय-देव-संबद्धा ।

जह तं निसुणसु धारिणि! सव्वंपि हु वज्जरिज्जंतं ॥१३३॥

संस्कृत छाया :-

संस्मृतौ पूर्वभवौ द्वौ मया मनुजदेव-सम्बद्धौ ।

यथा तं निःशृणु धारिणि! सर्वमपि खलु कथ्यमानम् ॥१३३॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे मने मनुष्यभव तथा देवभवथी संबद्ध पूर्वना बे

भव जे प्रमाणे रत्नरत्नमां आव्यां ते सर्व हे धारिणी! हुं कहुं छुं ते तुं सांभळ!।

हिन्दी अनुवाद :- तब मुझे मनुष्य भव एवं देवभव से सम्बद्ध पूर्व के दो भव जिस तरह स्मरण में आये वह सब मैं कहती हूँ, हे धारिणी! तू सुन!

गाहा :- पूर्वभव कथन

जंबुद्वीवे दीवे सुरगिरिणो उत्तरमि पासमि ।

एरवयं वर-खित्तं इहत्थि तेलोक्क-विक्खायं ॥१३४॥

संस्कृत छाया :-

जम्बुद्वीपे द्वीपे सुरगिरेः उत्तरे पार्श्वे ।

ऐरावतं वरक्षेत्रमिहास्ति त्रैलोक्य-विख्यातम् ॥१३४॥

गुजराती अर्थ :- जम्बुद्वीप नामना द्वीपमां मेरुगिरिनी उत्तरमां त्रणलोक-  
मां प्रख्यात श्रेष्ठ एवु ऐरावत नामनु क्षेत्र छे।

हिन्दी अनुवाद :- जम्बुद्वीप नाम के द्वीप मे मेरुगिरि के उत्तर में तीन लोकों में प्रख्यात, श्रेष्ठ ऐरावत नाम का क्षेत्र है।

गाहा :-

तम्मि य मज्झिम-खंडे आरिय-खित्तमि आसि वर-नयरं ।

अमर-पुर-सरिस-रूवं पडिवक्ख-नरिंद-दुग्गमं ॥१३५॥

तिहुअण-लच्छी-निलयं इब्भ-सहस्सोवसेवियं विउलं ।

आकाल-सुप्पइट्ठं नामेणवि सुप्पइट्ठंति ॥१३६॥

संस्कृत छाया :-

तस्मिंश्च मध्यखण्डे आर्यक्षेत्रे आसीद् वरनगरम् ।

अमरपुर-सद्ग-रूपं प्रतिपक्ष-नरेन्द्रदुर्गमम् ॥१३५॥

त्रिभुवनलक्ष्मीनिलयं इभ्यसहस्रोपसेवितं विपुलम् ।

आकाल-सुप्रतिष्ठं नाम्नाऽपि सुप्रतिष्ठमिति ॥१३६॥ युग्मम् ।

गुजराती अर्थ :- ते ऐरावत क्षेत्रना मध्यखण्डमां आर्यक्षेत्रमां शात्रु  
राजाओना प्रवेश माटे मुश्केल, देव नगर जेवु मनोहर, त्रण भुवननी  
लक्ष्मी ना घर समान, हजादो श्रेष्ठिओथी सेवायेलु अत्यार सुधी सारी  
प्रतिष्ठा ने पातेल अने नामथी पण सुप्रतिष्ठ एवुं नगर हतुं।

**हिन्दी अनुवाद :-** उस ऐरावत क्षेत्र के मध्य खण्ड में आर्यक्षेत्र में शत्रु राजा के लिए दुर्गम देवनगर जैसा मनोहर, तीन भुवन की लक्ष्मी के गृह तुल्य, सहस्र श्रेष्ठियों से सेवित, यावत्काल प्रतिष्ठा को पाया हुआ नाम से भी 'सुप्रतिष्ठ' ऐसा नगर था।

**गाहा :-**

उवहसिय-धणय-विहवो उवयार-रओ य सयल-लोयस्स ।

देव-गुरु-पूयण-रओ वच्छल्ल-यरो य बंधूणं ॥१३७॥

दक्खिन्न-दया-कलिओ अग्गाणी सयल-वणिय-सत्थस्स ।

हरिदत्तो नामेणं इब्भो परिवसइ अह तत्थ ॥१३८॥

**संस्कृत छाया :-**

उपहसित-धनदवैभव उपकाररतश्च सकलन्लोकस्य ।

देवगुरुपूजनरतो वात्सल्यपरश्च बन्धूनाम् ॥१३७॥

दाक्षिण्य-दयाकलितोऽग्रणीः सकल-वणिग्-सार्थस्य ।

हरिदत्तो नाम्ना इभ्यः परिवसत्यथ तत्र ॥१३८॥ युगम् ॥

**गुजराती अर्थ :-** हवे त्यां कुबेरना वैभवने पण उपहास करेनार, सकल लोकपर उपकार करवामां रत, देव-गुरूनी पूजामां रत, बन्धुओ परवात्सल्य मां तत्पर, दाक्षिण्य-दया थी शोभतो, सकल व्यापारी-वर्ग नो अग्रणी, हरिदत्त नामनो श्रेष्ठि रहेतो हतो।

**हिन्दी अनुवाद :-** अब वहां कुबेर के वैभव का भी उपहास करने वाला, सकल लोक में उपकाररत, देव-गुरु की उपासना में आसक्त, अन्यो और बन्धुओं के प्रति वात्सल्य में तत्पर, दाक्षिण्य-दया से युक्त, सम्पूर्ण व्यापारी वर्ग का अग्रणी, उस नगर में हरिदत्त नाम का श्रेष्ठी रहता था।

**गाहा :-**

निज्जिय-रइ-सोहग्गा शीलवई मधुर-भासिणी दक्खा ।

पाणपिया विणयवई भारिया तस्स ॥१३९॥

**संस्कृत छाया :-**

निर्जितरतिसौभाग्या शीलवती मधुरभाषिणी दक्षा ।

प्राणप्रिया विनयवती विनयवती भार्या तस्य ॥१३९॥

**गुजराती अर्थ :-** रतिना सौभाग्यने जीतनारी, शीलवती, मधुरभाषी, चतुर, प्राणथी प्रिय अने विनयवाली एवी विनयवती नामनी तेने पत्नी हती।

**हिन्दी अनुवाद :-** रति के सौभाग्य को जीतनेवाली, शीलवती, मधुरभाषिका, चतुरा, विनयवाली, प्राण से प्रिय ऐसी विनयवती नाम की उसकी पत्नी थी।

गाहा :-

पंच-पयारे विसए तीए समं तस्स अणुहवंतस्स ।

जाओ पहाण-पुत्तो वसुदत्तो नाम सुप्रसिद्धो ॥१४०॥

संस्कृत छाया :-

पञ्चप्रकारान् विषयान् तथा समं तस्यानुभवतः ।

जातः प्रधानपुत्रो वसुदत्तो नाम सुप्रसिद्धः ॥१४०॥

गुजराती अर्थ :- तेणीनी साथे पांच प्रकारना विषयोनी अनुभव करता तेने सुप्रसिद्ध एवो वसुदत्त नामनो मोटो पुत्र थयो!

हिन्दी अनुवाद :- उनके साथ पाँचों प्रकारों के विषयों का अनुभव करते हुए उसे सुप्रसिद्ध वसुदत्त नाम का ज्येष्ठ पुत्र हुआ।

गाहा :-

तत्तो विणयवईए कमेण धूयाओ तिन्नि जायाओ ।

निज्जिय-सुरिंद-सुंदरि-रूवाइसएण कलियाओ ॥१४१॥

संस्कृत छाया :-

ततो विनयवत्या क्रमेण दृहितरस्तिस्त्रः जाताः ।

निर्जित-सुरेन्द्रसुन्दरी-रूपातिशयेन कलिताः ॥१४१॥

गुजराती अर्थ :- तयार पछी विनयवतीने क्रमे करीने सुरसुन्दरीओना रूप ने पण जीते तेवी त्रण पुत्रीओ जन्मी!

हिन्दी अनुवाद :- बाद में विनयवती को क्रम से सुरसुन्दरियों के रूप को भी परास्त करने वाले रूपवाली तीन पुत्रियां जन्मीं।

गाहा :- विनयपलीनी त्रण पुत्रिओ

जेट्टा सुलोयणत्ति य बीया कत्ता अणंगवई-नामा ।

वसुवइ-नामा तइया ति-लोय-अच्छेरय-ब्भूया ॥१४२॥

संस्कृत छाया :-

ज्येष्ठा सुलोचनेति च द्वितीया कन्याऽनङ्गवती नाम्नी ।

वसुमती-नाम्नी तृतीया त्रिलोकाश्चर्यभूताः ॥१४२॥

गुजराती अर्थ :- त्रणे लोकमां आश्चर्यभूत एवी मोटी सुलोचना, बीजी अनंगवती, तथा त्रीजी वसुमती नामनी पुत्री थई।

हिन्दी अनुवाद :- तीनों लोक में आश्चर्यभूत ऐसी बड़ी पुत्री सुलोचना, दूसरी अनंगवती तथा तीसरी वसुमती नाम की पुत्री हुई।

गाहा :- त्रीजी वसुमलनी युवावस्था

कमसो वड्ढंतीओ तरुण-जणुम्माय-कारयं रम्मं ।

अह ताओ पत्ताओ तिन्निवि नव-जोव्वणारंभं ॥१४३॥

संस्कृत छाया :-

क्रमशो वर्धमानास्तरुणजनोन्मादकारकं रम्यम् ।

अथ ताः प्राप्तास्तिस्रोऽपि नव-यौवनारम्भम् ॥१४३॥

गुजराती अर्थ :- क्रमे करीने वधती ते त्रणे तरुणजनने मोहित करावणार अने सुंदर, एवा नूतन यौवनना आरंभकाल ने पामी!

हिन्दी अनुवाद :- क्रमशः बढ़ती हुई वे तीनों तरुणजन को उन्माद करानेवाली एवं सुंदर ऐसे नूतन यौवन वय में प्रविष्ट हुईं।

गाहा :-

कन्या सुलोचना सा परिणीया मेहलावङ्ग-पुरीए ।

सागरदत्त-सुएणं सुबंधु-नामेण वणिएण ॥१४४॥

संस्कृत छाया :-

कन्या सुलोचना सा परिणीता मेखलावती-पुर्याम् (पुर्याःवा) ।

सागरदत्तसुतेन सुबन्धु-नाम्ना वणिजा ॥१४४॥

गुजराती अर्थ :- ते सुलोचना कन्या मेखलावती नगरीना (अथवा नगरीमां) सागरदत्तना पुत्र सुबन्धु नामना वणिक् पुत्र साथे परणी।

हिन्दी अनुवाद :- उस सुलोचना कन्या की मेखलावती पुरी (अथवा पुरी के) सागरदत्त के पुत्र सुबन्धु नाम के वणिक् पुत्र के साथ लग्न हुआ।

गाहा :-

विजयवर्द्ध-नयरीए सुएण धणभूङ्ग-सत्यवाहस्स ।

धणवाहण-नामेणं विवाहियाऽनंगवङ्ग-कन्या ॥१४५॥

संस्कृत छाया :-

विजयवती-नगर्यां (र्याःवा) सुतेन धनभूति-सार्थवाहस्य ।

धनवाहन-नाम्ना विवाहिताऽनंगवती-कन्या ॥१४५॥

गुजराती अर्थ :- विजयवती नगरीना (अथवा नगरीना) धनभूति सार्थवाहना पुत्र धनवाहन साथे अनंगवती कन्यामां लग्न थया।

हिन्दी अनुवाद :- विजयवती नगरी में (अथवा नगरी के) धनभूति सार्थवाह के पुत्र धनवाहन के साथ अनंगवती कन्या का विवाह हुआ।

गाहा :- पसुमतीना धनपति साथे विवाह

सावि हु वसुमङ्ग-कन्या नयरीए मेहलावर्द्धए ओ ।

धणवङ्गणा परिणीया तणएण समुद्रदत्तस्स ॥१४६॥

संस्कृत छाया :-

सापि खलु वसुमती-कन्या नगर्यां (र्याःवा) मेखलावत्यां (त्याःवा) तु ।

धनपतिना परिणीता तनयेन समुद्रदत्तस्य ॥१४६॥



गुजराती अर्थ :- ते वसुमती कन्या पण मेखलावती नगरीमां (अथवा नगरीना) समुद्रदत्तना पुत्र धनपति साथे परणी!

हिन्दी अनुवाद :- उस वसुमती कन्या की भी मेखलावती नगरी के समुद्रदत्त के पुत्र धनपति के साथ शादी हुई।

गाहा :-

अह सो धणवइ-वणिओ कलासु कुसलो अणंग-पडिरूवो।

समयं तु वसुमईए भुंजइ माणुस्सए भोए ॥१४७॥

संस्कृत छाया :-

अथ स धनपतिवणिजः कलासु कुशलोऽनङ्गप्रतिरूपः ।

समकं तु वसुमत्या भुनक्ति मानुष्यान् भोगान् ॥१४७॥

गुजराती अर्थ :- हवे ते कलाओंमां कुशल, कामदेवना रूप समान धनपति वेपारी वसुमती साथे मनुष्य संबंधी भोगोने भोगवे छे!

हिन्दी अनुवाद :- अब वह कलाओं में कुशल कामदेव के रूप समान धनपति वणिक वसुमती के साथ मनुष्य संबंधी भोगों को भोगता है।

गाहा :-

बडुंत-सिणेहाणं ताणं अन्नोन्न-रत्त-चित्ताणं ।

नव-जोव्वणाण सरसं विसय-सुहं सेवमाण्णाणं ॥१४८॥

गुरु-जण-विणय-रयाणं अवरोप्पर-विरह-दुक्ख-रहियाणं ।

वच्चंति वासराइं आणंदिय-बंधु-वग्गाणं ॥१४९॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया :-

वर्धमान-स्नेहयोस्तयोरन्योन्यरक्तचित्तयोः ।

नवयौवनयोः सरसं विषयसुखं सेवमानयोः ॥१४८॥

गुरुजन-विनयरतयोः परस्पर-विरहदुःखरहितयोः ।

व्रजन्ति वासराण्यानन्दित-बन्धुवर्गयोः ॥१४९॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- वधतां स्नेहवाळा, परस्पर आसक्त चित्तवाळा, नवा यौवनवाळा, रसपूर्वक विषय-सुख ने सेवतां, गुरुजनने विषे विनयमां रागी, परस्पर विरहना दुःख थी रहित, बन्धुवर्गने आनन्द आपनार ते बद्धेना दिवसो जता हता।

हिन्दी अनुवाद :- बढ़ते स्नेह वाले, परस्पर आसक्त चित्तवाले, नूतन यौवनवाले रस से विषय को सेवन करने वाले, गुरुजन पर विनयवाले, परस्पर विरह के दुःख से रहित बन्धुवर्ग को आनंद कर ने वाले दोनों के दिन व्यतीत हो रहे थे।

गाहा :-

अह अन्नया कयाइवि पवरे हम्मिय-तलम्मि पासुत्तो ।

धणवइ-वणिओ तीए वसुमइ-दइयाए संजुत्तो ॥१५०॥

संस्कृत छाया :-

अथान्यदा कदाचिदपि प्रवरे हर्म्यतले प्रसुप्तः ।

धनपतिवणिजः तया वसुमतीदयितया संयुक्तः ॥१५०॥

गुजराती अर्थ :- हवे एक वखत क्यारेक ते वसुमती पत्नी साधे धनपति वेपारी महेलनी अगासीमां सूतो हतो।

हिन्दी अनुवाद :- अब एक दिन कभी महल की छत पर धनपति वणिक् वसुमति पत्नी के साथ सोया था।

गाहा :- वसुमतीनी शय्यामां परपुरुष

निम्मल-ससि-कर-उज्जोइयाए रयणीए पच्छिमे जामे ।

निद्दा-खए विबुद्धा मुद्धा सा वसुमई वरई ॥१५१॥

संस्कृत छाया :-

निर्मल-शशीकर उद्योतितायां (याः) रजन्यां (न्याः) पश्चिमे यामे।

निद्राक्षये विबुद्धा मुग्धा सा वसुमती वराकी ॥१५१॥

गुजराती अर्थ :- निर्मल चन्द्रना किरणोथी प्रकाशित रात्रिमां (ना) पाछला प्रहरमां भोली एवी ते बिचारी वसुमती ऊँघ उडवाथी जागी।

हिन्दी अनुवाद :- निर्मल चन्द्र के किरणों से प्रकाशित रात्रि के पिछले प्रहर में वह मुग्धा वसुमती निद्रा क्षय होने से जग गई।

गाहा :-

निय-सयणीय-पसुत्तं पर-पुरिसं पिक्खिऊण भय-भीया।

सा पवण-हया तणु-तरु-लयव्व अह कंपिया सहसा ॥१५२॥

संस्कृत छाया :-

निजशयनीयप्रसुप्तं परपुरुषं प्रेक्ष्य भयभीता।

सा पवनहता तनुतरुलतेवाथ कम्पिता सहसा ॥१५२॥

गुजराती अर्थ :- पोतानी पथारीमां परपुरुषने सूतेलो जोईने अत्यंत भयभीत थयेली ते पवन थी हणायेली वृक्षवेलडीनी जेम एकदम ध्रुजवा लागी।

हिन्दी अनुवाद :- अपनी शय्या में सोये हुए परपुरुष को देखकर वह अत्यंत डर गई, और वायु से आहत वृक्षलता की तरह सहसा कांपने लगी।

गाहा :-

चिंतइ सा मिय-नयणा कथ्य गओ मज्झ नियय-नाहो सो।

दुक्ख-पवेसम्मि गिहे एसो पुरिसो कह पविट्ठो? ॥१५३॥

संस्कृत छाया :-

चिन्तयति सा मृगनयना कुत्र गतो मे निजक नाथः सः ।

दुःख-प्रवेशे गृहे एष पुरुषः कथं प्रविष्टः? ॥१५३॥

गुजराती अर्थ :- ते हरणी जेवी आंखवाली विचारे छे ते मारा पोताना नाथ क्यां गया? वली दुःखे थी प्रवेश करी थाकाय एवा आ घरवां आ पुरुष केवी रीते प्रवेश्यो?

हिन्दी अनुवाद :- वह मृगनयना सोचती है - कि मेरे नाथ कहां गये? एवं दुष्प्रविष्ट ऐसे घर में यह पुरुष कैसे आया?

गाहा :-

किंवा सो मण-दइओ हविज्ज निहओ इमेण पावेण ।

सोच्चिय दइओ अन्नो पडिहासइ किं विवज्जासा? ॥१५४॥

संस्कृत छाया :-

किं वा स मनोदयितो भवेद् निहतोऽनेन पापेन ।

स एव दयितोऽन्यः प्रतिभासते किं विपर्यासात्? ॥१५४॥

गुजराती अर्थ :- अथवा तो शुं? आ पापीए मनोवल्लभ ने मारी नांख्यो? के कोई विपरीतपणा थी ते ज प्रियतम अन्य लागे छे?

हिन्दी अनुवाद :- अथवा इस पापी ने मेरे मनोवल्लभ पतिदेव को मार डाला क्या? या तो कुछ मतिभ्रम से प्रियतम ही अन्य लगता है?

गाहा :-

अहवा न होह एसो मह दइओ ताव निच्छओ एस ।

एस अउव्वो कोवि हु दीसइ दिव्वाणुकारिति ॥१५५॥

संस्कृत छाया :-

अथवा न भवति एषो मे दयितस्तावद् निश्चय एषः ।

एषोऽपूर्वः कोऽपि खलु दृश्यते दिव्यानुकारीति ॥१५५॥

गुजराती अर्थ :- अथवा निश्चे आ मारो पति नथी-, आ कोईक अपूर्व दिव्य शक्तिनुं अनुकरण करनारो लागे छे!

हिन्दी अनुवाद :- अथवा निश्चित ही यह मेरा पति नहीं है, यह कोई अपूर्व दिव्य शक्ति का अनुकरण करने वाला लगता है।

गाहा :-

तह सुवइ सुवीसत्थो पविसित्ता पर-गिहम्मि जं एसो।

तं नूणं भवियव्वं केणावि हु कारणेणित्थ ॥१५६॥

संस्कृत छाया :-

तथा स्वपिति सुविश्वस्तः प्रविश्य परगृहे यदेषः।

तद् नूनं भवितव्यं केनापि खलु कारणेनात्र ॥१५६॥

गुजराती अर्थ :- पारकाना घरमां प्रवेशी ने विश्वासपूर्वक आ पुरुष जे रीते सूतो छे, तेथी निश्चे अहीं कोई कारण होवु जोडए।

हिन्दी अनुवाद :- दूसरे के घर में आकर विश्वासपूर्वक यह पुरुष जैसे सो रहा है, निश्चित ही यहीं कुछ कारण होना चाहिए!

गाहा :-

जइ एस अन्न-पुरिसो दइओ वा तहवि इण्हि मह जुत्तं ।

निय-सासुयाए सिग्घं जहड्डियं चेव साहेउं ॥१५७॥

संस्कृत छाया :-

यद्येषोऽन्यपुरुषो दयितो वा तथापीदानीं मे युक्तम् ।

निज श्वश्रूं शीघ्रं यथास्थितमेव कथयितुम् ॥१५७॥

गुजराती अर्थ :- जो आ अन्य पुरुष होय के मारा पति होय तो पण अत्यारे मारे जल्दीथी मारी सासुमाने जेवु छे तेवु कहेवुं योग्य छे।

हिन्दी अनुवाद :- यदि यह अन्य पुरुष हो या मेरा पति हो जो कुछ भी हो किन्तु अभी तो शीघ्र ही मुझे सासूमा को वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने योग्य है।

गाहा :- वसुमतीद्वारा सासूजीने समाचार

जइ पुण एयं न कहेमिं कहवि निय-सासुयाए वुत्तंतं ।

आजम्मंपि कलंकं सुदूसहं होइ ता मज्झ ॥१५८॥

संस्कृत छाया :-

यदि पुनरेतं न कथयामि कथमपि निजस्वश्र्वै वृत्तान्तम् ।

आजन्मापि कलङ्कं सुदुस्सहं भवति तर्हि मे ॥१५८॥

गुजराती अर्थ :- वली जो केमे करीने सासुमा ने आ हकीकत जणावुं तो मारा माथे आजीवन अतिदुस्सह कलंक रहेथे।

हिन्दी अनुवाद :- और यदि मैं यह हकीकत सासूजी को विदित न करूं तो मेरे ऊपर आजीवन अतिदुस्सह कलंक रहेगा।

गाहा :-

एवं विचिंतिऊणं उत्तरिया हम्मियाओ सा बाला ।

पत्ता य सासुयाए सुदंसणाए समीवम्मि ॥१५९॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्य, उत्तीर्णा हर्म्यात् सा बाला ।

प्राप्ता च श्वश्र्वाः सुदर्शनायाः समीपे ॥१५९॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे निश्चय करीने ते बाला छत परथी नीचे उतरी अने सुदर्शना सासुनी पास आयी।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार निर्णय कर के वह बाला छत पर से नीचे उतरी और सुदर्शना सासू के पास आयी।

गाहा :-

सा सणियं उडुविया भणइ किमागमण-कारणं सुणहे!।

तत्तो य वसुमईए जहडियं साहियं सव्वं ॥१६०॥

संस्कृत छाया :-

सा शनै-रुत्थापिता भणति किमागमनकारणं स्नुषे?।

ततश्च वसुमत्या यथास्थितं कथितं सर्वम् ॥१६०॥

गुजराती अर्थ :- हवे धीमेथी उठाडायेली ते सासुए पुछयुं, हे वहु! आववानुं शुं कारण छे? त्यारे वसुमतीए पूरी हकीकत जणावी दीधी।

हिन्दी अनुवाद :- तथा धीरे से सासूजी को उठाई तब सासू ने पूछा - हे! बहू! आने का कारण क्या है? तब वसुमती ने सभी बात बता दी।

गाहा :-

भणियं सुदंसणाए न संभवो अत्थि इत्थ अन्नस्स ।

निद्दा-वसओ होज्जा तुह जाओ विब्भमो एसो ॥१६१॥

संस्कृत छाया :-

भणितं सुदर्शनया न संभवोऽस्त्यत्रान्यस्य ।

निद्रावशतो भवेत् ते जातो विभ्रम एषः ॥१६१॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे सुदर्शनाए कहयुं, अहीं अन्यपुरुषनो संभव ज नथी, निद्राना वश थी तने आ भ्रम थयो हथे!

हिन्दी अनुवाद :- तब सुदर्शना ने कहा - 'यहाँ अन्य पुरुष का आना ही संभव नहीं है। निद्रा के कारण तुझे भ्रम हुआ लगता है!'

गाहा :-

भणियं च वसुमईए अंबि! सयं चेव ता निरूवेसु ।

एवं तीए भणिया सुदंसणा लहु गया तत्थ ॥१६२॥

संस्कृत छाया :-

भणितं च वसुमत्या अम्ब! स्वयमेव तर्हि निरूपय ।

एवं तया भणिता सुदर्शना लघु गता तत्र ॥१६२॥

गुजराती अर्थ :- वसुमतीए कहयुं - हे माता! तो आप स्वयं ज जुवो! आ प्रमाणे तेणीना द्वारा कहेवायेली सुदर्शना जल्दी थी त्यां गई!

हिन्दी अनुवाद :- तब वसुमती ने कहा - 'हे! माताजी! आप स्वयं ही आकर देखिये! इस प्रकार उसके कहने पर सुदर्शना जल्दी से वहाँ गई।'

गाहा :-

सम्मं निरूविओ सो निद्दाए पसुत्तओ तहिं पुरिसो ।

नायं सुदंसणाए जह एस न होइ मह पुत्तो ॥१६३॥

संस्कृत छाया :-

सम्यग् निरूपितः स निद्रायां प्रसुप्तस्तत्र पुरुषः ।

ज्ञातं सुदर्शनया यथा एष न भवति मे पुत्रः ॥१६३॥

गुजराती अर्थ :- त्यां निद्रामां सूतेला ते पुरुषने सारीं रीते जोयो तेथी सुदर्शनाएरु प्रमाणे जाण्यु के आ मारो पुत्र नथी।

हिन्दी अनुवाद :- और वहाँ निद्राधीन पुरुष को अच्छी तरह देखा, और देखकर सुदर्शना ने निश्चित किया कि यह मेरा पुत्र नहीं है।

गाहा :-

तत्तो सुदंसणाए पोक्करियं दीहरेण सहेण।

धावह धावह लोया! एस अउव्वो नरो कोवि ॥१६४॥

संस्कृत छाया :- परपुरुष कोण?

ततः सुदर्शनया पूकृतं दीर्घेण शब्देन।

धावत-धावत लोकाः! एषोऽपूर्वो नरः कोऽपि ॥१६४॥

गुजराती अर्थ :- त्यार पछी सुदर्शनाए मोटा अवाज बडे पोक्कार कर्यो हे! लोको! दोडो! दोडो! आ कोई नवो ज पुरुष छे।

हिन्दी अनुवाद :- बाद में सुदर्शना ने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू किया। अरे! अरे! लोगों! दौड़ो! यह कोई अन्य पुरुष है।

गाहा :-

अम्ह धरम्मि पविट्ठो जारो चोरोव्व नूण होऊण ।

एवं सुदंसणाए विहियं सोऊण हलबोलं ॥१६५॥

रे! लेह लेह धावह कत्थ गओ कत्थ अच्छइ निलुक्को ।

एमाइ वाहरंतो समुट्ठिओ परियणो सव्वो ॥१६६॥

संस्कृत छाया :-

अस्माकं गृहे प्रविष्टो जारश्चौरइव नूनं भूत्वा ।

एवं सुदर्शनया विहितं श्रुत्वा कलकलम् ॥१६५॥

रे लात! लात! धावत! कुत्र गतः कुत्राऽऽस्ते निलीनः ।

एवमादि व्याहरन् समुत्थितः परिजनः सर्वः ॥१६६॥

गुजराती अर्थ :- निश्चे आ जार पुरुष अमारो घरमां चोर जेवो थइने प्रवेशेलो छे। आ प्रमाणे सुदर्शनाए करेल कोलाहल ने सांभळी ने- अरे! पकड़ो! पकड़ो! दोड़ो! चोर क्यां गयो! क्यां बेठो छे? इत्यादि बोलता बधो सेवक वर्ग उठयो।

हिन्दी अनुवाद :- निश्चित ही यह कोई जार पुरुष हमारे घर में चोर की तरह आया है। इस प्रकार सुदर्शना का कोलाहल सुनकर - अरे! रे! पकड़ो! पकड़ो! दौड़ो! चोर कहाँ गया? कहाँ बैठा है? इस प्रकार बोलते हुये सभी सेवकवर्ग उठ गये।

गाहा :-

मिलिओ य भूरि-लोगो किं किं एयंति एव जंपंतो ।

सिद्धी समुद्रदत्तो भणइ पिए! केण मुसिया सि? ॥१६७॥

संस्कृत छाया :-

मिलितश्च भूरि लोकः किं किं - मेतदिति एवं जल्पन् ।

श्रेष्ठी समुद्रदत्तो भणति प्रिये! केन मुषिताऽसि? ॥१६७॥

गुजराती अर्थ :- अने घणा लोको, शुं थयु! शुं धयुं? ए प्रमाणे बोलता भेगा धया, श्रेष्ठि समुद्रदत्ते पुछ्युं, हे प्रिये! तने कोणे ठगी?

हिन्दी अनुवाद :- और बहुत लोक - अरे! क्या हुआ? क्या हुआ? इस प्रकार बोलते हुए इकट्ठे होकर श्रेष्ठि समुद्रदत्त ने पूछा - हे प्रिये! किसने चोरी की है?

गाहा :-

सोवि हु सयणीयाओ समुद्धिओ कल-यलं निसामित्ता ।

वज्जइ केण अंबे! मुसिया, जं एवमुल्लवसि! ॥१६८॥

संस्कृत छाया :-

सोऽपि खलु शयनीयात् समुत्थितः कलकलं निशम्य ।

कथयति केन अम्ब! मुषिता यदेवमुल्लपसि ॥१६८॥

गुजराती अर्थ :- ते पण कोलाहल सांभळीने शय्या मांथी उठ्यो, अने पुछ्युं हे माता! कोणे चोरी करी छे? जेथी तु आ प्रमाणे बोले छे!

हिन्दी अनुवाद :- और वह भी कोलाहल सुनकर शय्या में से उठा, और पूछने लगा हे माता, किसने चोरी की है? जिससे तू इस प्रकार बोलती है।

गाहा :-

न हु इत्थ कोवि दीसइ दुट्ट-मई कीस अंबि! उव्विग्गा? ।

एवं तु तेण भणिया सुदंसणा एवमुल्लवइ ॥१६९॥

संस्कृत छाया :-

न खल्वत्र कोऽपि दृश्यते दुष्टमतिः कस्माद् अम्ब! उद्विग्ना? ।

एवं तु तेन भणिता सुदर्शना एवमुल्लपति ॥१६९॥

गुजराती अर्थ :- अहीं कोई दुष्टमतिवालो देखातो नथी, तो हे माता! शा कारणथी तूं गभरायेली छे? तेजा वडे आ रीते कहेवायेली सुदर्शना कहे छे!

हिन्दी अनुवाद :- हे माता! यहाँ तो दुष्टमतिवाला कोई दिखाई नहीं देता है, तो फिर तूं किस हेतु डरती है उसके इस प्रकार कहने पर सुदर्शना कहती है।

गाहा :-

को सि तुमं कस्स सुओ कीस गिहे मज्झ आगओ पाव! ? ।

हा! धिद्ध! किंनिमित्तं अंबित्ति ममं समुल्लवसि? ॥१७०॥

संस्कृत छाया :-

कोऽसि त्वं? कस्य सुतः? कस्मात् गृहे मे आगतः पाप! ? ।

हा! धृष्ट! किं निमित्तं अम्बेति मां समुल्लपसि? ॥१७०॥

गुजराती अर्थ :- तुं कोण छे? कोनो पुत्र छे? शा माटे मारा घटे आवेलो छे? अरें। लुच्चा! तुं क्या कारणे मने 'माता' ए प्रमाणे कहे छे?

हिन्दी अनुवाद :- हे! पापी! तू कौन है? किसका पुत्र है? किस हेतु से मेरे घर आया है? अरे! धृष्ट पुरुष! और मुझे माता कहकर क्यों बुलाता है?

गाहा :-

कीस मह पुत्र-सेज्जाए इत्थ सुत्तोसि नद्द-मज्जाय! ।

कत्थ कओ मे पुत्तो धणवइ-नामो हयास! तुमे? ॥१७१॥

संस्कृत छाया :-

कस्माद् मे पुत्र शय्यायामत्र सुप्तोऽसि नष्टमर्याद! ।

क्व कुतो मे पुत्रो धनपलिनामा हताश! त्वया? ॥१७१॥

गुजराती अर्थ :- मारा पुत्रनी पथारीमां हे निर्लज्ज! तुं केम सूतो छे? मारा पुत्र धनपतिने ते शुं कर्युं छे?

हिन्दी अनुवाद :- हे निर्लज्ज! मेरे पुत्र की शय्या में तू क्यों सोया है? और मेरे पुत्र धनपति को तूने क्या किया है?

गाहा :-

एवं च तीइ निट्ठुर-वयणाणि निसम्म-विम्हिओ चित्ते ।

सो पुरिसो निय-देहं पुणो पुणो अह पुलोएइ ॥१७२॥

संस्कृत छाया :-

एवं च तस्या निष्ठुर-वचनानि निशम्य विस्मितश्चित्ते ।

स पुरुषो निजदेहं पुनः पुनरथ पश्यति ॥१७२॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे तेणीना निष्ठुर-वचनोने सांभलीने चित्तमां विस्मित थयेलो ते पुरुष हवे पोताना देह ने बारंबार जीवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार माता के निष्ठुर वचन सुनकर चित्त में विस्मित हुआ वह पुरुष बार-बार अपने देह को देखने लगा।

गाहा :-

आलोइऊण सुइरं निय-देहं जाव सामल-मुहो सो ।

उप्पइय-मणो ताहे आलोयइ नह-यलं सहसा ॥१७३॥

संस्कृत छाया :-

आलोक्य सुचिरं निजदेहं यावत् श्यामलमुखः सः ।

उत्पतित-मनास्तदा आलोकयति नभस्तलं सहसा ॥१७३॥



गुजराती अर्थ :- लांबा समय सुधी पोताना देहने जोईने काला मुखवालो अने उडवानी ईच्छावालो ते त्याचे एकदम आकाशा ने जीवा लाग्यो!

हिन्दी अनुवाद :- लंबे समय तक अपने देह को देखकर काला मुख वाला और उड़ने की इच्छावाला वह तब सहसा गगन को देखता है।

गाहा :-

बुड बुड इय अव्वत्तं जावं दिंतोव्व पवर-विज्जाए।

उल्ललइ य पुणरुत्तं दहुर इव भूमि-पट्टम्मि ॥१७४॥

संस्कृत छाया :-

बुडबुडेति अव्यक्तं जापं दददिव प्रवरविद्यया।

उल्ललति च पुनरुक्तं दर्दुरिव भूमिपृष्ठे ॥१७४॥

गुजराती अर्थ :- श्रेष्ठ विद्या वड़े 'बुड-बुड'ए प्रमाणे अव्यक्त जापने वारंवार करतो होय तेम देडका नी जेम पृथ्वी पर उछले छे।

हिन्दी अनुवाद :- श्रेष्ठ विद्या द्वारा 'बुड-बुड' इस प्रकार अव्यक्त जाप को बार-बार करता हो उस तरह बोलता हुआ मेंढक की तरह पृथ्वी पर उछलता है।

गाहा :-

जाओ खणेण दीणो खयर-कुमारोव्व नट्ट-वर-विज्जो।

गाठं वेविर-देहो मूढोव्व हिंउव्व संजाओ ॥१७५॥

संस्कृत छाया :-

जातः क्षणेन दीनः खेचरकुमार इव नष्टवरविद्यः।

गाठं वेपमान देहो मूढ इव हृत इव सञ्जातः ॥१७५॥

गुजराती अर्थ :- नष्ट थयेत विद्यावालो ते पुरुष विद्याधर कुमारनी जेम क्षणमां रांकडो थयो तथा अत्यंत कंपता देहवालो, मूढनी जेम लुंटायेत्ता जेवो थयो।

हिन्दी अनुवाद :- नष्ट हुई है विद्या जिसकी वैसा वह पुरुष - विद्याधर कुमार की तरह क्षण में दीन हुआ तथा अत्यंत कम्पित शरीर वाला वह तथा मूढ़ की तरह मानो लुट गया हो वैसा हो गया।

गाहा :-

अह तं तारिस-रूवं पुरिसं ददुं सुदंसणा भणइ।

पाविट्ट ! किं न साहसि कथ्य कओ मह सुओ तुमए? ॥१७६॥

संस्कृत छाया :-

अथ तं तादृशरूपं पुरुषं दृष्ट्वा सुदर्शना भणति।

पापिष्ठ ! किं न कथयसि कुत्र कृतो मे सुतस्त्वया? ॥१७६॥

गुजराती अर्थ :- हवे तेवी अवस्थावाला ते पुरुषने जोईने सुदर्शना कहे छे। हे पापिष्ठ! मारा पुत्रने तारा वडे शुं करायुं छे? ते तुं केम बोलतो नथी? हिन्दी अनुवाद :- अब इस प्रकार के उस पुरुष को देखकर सुदर्शना कहती है अरे! पापिष्ठ! मेरे पुत्र को तुमने क्या किया है? वह तू क्यों बोलता नहीं है?

गाहा :-

सोवि अहो-मुह वयणो होऊण ठिओ न जंपई जाव ।

ताहे सो जण-निवहो विविहं उल्लविउमाढत्तो ॥१७७॥

संस्कृत छाया :-

सोऽपि अधोमुख-वदनो भूत्वा स्थितो न जल्पति यावत् ।

तदा स जन-निवहो विविधमुल्लपितु-मारब्धः ॥१७७॥

गुजराती अर्थ :- ते पण अधोमुख-वदनवालो थईने रहेलो जयां सुधी कांई ज बोलतो नथी त्यारे ते जनसमूह विविध प्रकारे बोलवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- वह भी अधोमुखवाला होकर जब तक कुछ बोलता नहीं है तब तक वह जनसमूह विविध प्रकार से बातें करने लगा!

गाहा :-

एसो इब्भ-घरम्मी समागओ चोरियाए धण-लुब्धो ।

अन्ने भणंति चोरो जइ ता सेज्जाए किं सुत्तो ? ॥१७८॥

संस्कृत छाया :-

एष इभ्य-गृहे समागतश्चौर्याय धनलुब्धः ।

अन्ये भणन्ति चौरौ यदि तर्हि शय्यायां किं सुप्तः? ॥१७८॥

गुजराती अर्थ :- आ श्रेष्ठीनाघरमां धननो लोभीयो चोरी माटे आवेलो छे, बीजाओ केटलाक कहे छे 'जो चोर छे तो पथारीमां केम सूतो छे?

हिन्दी अनुवाद :- यह धन का लोभी चोरी के लिए श्रेष्ठि के घर में आया लगता है तथा अन्य कितने ही कहते हैं यदि चोर है तो शय्या में क्यों सोया है?

गाहा :-

ता एस वसुमईए कएण परदारियाए आयाओ ।

अन्ने भणंति जारो जइ ता अंबित्ति किं भणइ? ॥१७९॥

संस्कृत छाया :-

तदा एष वसुमत्या कृतेन पारदारिकतया आयातः ।

अन्ये भणन्ति जारो यदि तर्हि अम्बेति किं भणति? ॥१७९॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे आ वसुमति साथे पररुनीगमन करवा आव्यो छे, बीजा कहे छे, जो जार छे, तो पछी माता! ए प्रमाणे केम बोले छे।

**हिन्दी अनुवाद :-** तब यह वसुमती के साथ पारदारिक क्रिया करने आया लगता है, तो अन्य कहते हैं यदि जार है तो 'माता' करके क्या बुलाता है?

**गाहा :-**

ता एस धणवइच्चिय विहिओ केणावि अन्न-रूवेण ।

देवेण दाणवेण व केलीए पिण्ण मन्नामो ॥१८०॥

**संस्कृत छाया :-**

तत एष धनपतिरेव विहितः केनापि अन्यरूपेण ।

देवेन दानवेन वा केल्या प्रियेण मन्यामहे ॥१८०॥

**गुजराती अर्थ :-** तेथी क्रीडाप्रिय एवा कोइ पण देवे के दानवे आ धनपतिने ज कोई कारणथी अन्यरूपे बनाव्यो तेवु आपणे मानवुं जोइये।

**हिन्दी अनुवाद :-** क्रीडाप्रिय कोई देव ने अथवा दानव ने धनपति को ही किसी कारण से अन्य रूपवाला बना दिया हो, ऐसा हमें मानना चाहिए।

**गाहा :-**

अन्ने भणंति भूओ एस पिसाउव्व आगओ एत्थ ।

अम्हाण छलण-हेउं एरिस-रूवेण दुट्ठप्पा ॥१८१॥

**संस्कृत छाया :-**

अन्ये भणन्ति भूत एष पिशाचो वाऽऽगतोऽत्र ।

नः छलनहेतुरीदृश-रूपेण दुष्टात्मा ॥१८१॥

**गुजराती अर्थ :-** वली बीजाओ कहे छे, आ दुष्ट भूत के पिशाच अमने ठगवा माटे आवा धनपतिना रूप वडे अहीं आवेलो छे।

**हिन्दी अनुवाद :-** और दूसरे तो कहते हैं - यह दुष्ट भूत या पिशाच हमें छलने को धनपति के रूप में यहाँ आया है।

**गाहा :-**

भो भो न एवमेयं भणंति अन्ने उ किंतु निसुणेह ।

वसुमइयाए शीलं परिक्खिउं आगओ तियसो ॥१८२॥

**संस्कृत छाया :-**

भो! भो! नैवमेतद् भणन्त्यन्ये तु किन्तु निःशृणुत ।

वसुमत्याःशीलं परीक्षितुं आगतस्त्रिदशः ॥१८२॥

**गुजराती अर्थ :-** अरे! अरे! आ ए प्रमाणे नथी, परंतु सांभलो! आ वसुमतीना शील नी परीक्षा माटे देव आवेलो छे, एम केटलाको ए कहयुं।

**हिन्दी अनुवाद :-** अरे! अरे! ऐसा नहीं है? सुनो! यह वसुमती के शील की परीक्षा के लिए कोई देव आया है। इस तरह कई लोगों ने कहा।

गाहा :-

एमाइ बहु-विगप्यं परोप्परं जा जणो समुल्लवइ ।  
ताव य पिय-सहि! धारिणि! निसुणसु जं तत्थ संजायं ॥१८३॥

संस्कृत छाया :-

एवमादि बहुविकल्पं परस्परं यावज्जनः समुल्लपति ।  
तावच्च प्रियसखि! धारिणि! निःशृणु यत्तत्र सज्जातम् ॥१८३॥

गुजराती अर्थ :- इत्यादि परस्पर लोको ज्यां सुधी घणा विकल्पो कहे छे  
त्यां सुधीमां हे प्रियसखि! धारिणि! जे थयुं ते तुं सांभलो!

हिन्दी अनुवाद :- इत्यादि जब तक परस्पर लोग, विकल्प करते हैं तब तक जो  
कुछ हुआ वह हे धारिणी सखी! तू सुन!

गाहा :- देव आगमन

केऊर-हार-अंगय-विरायमाणो मणोहर-सरीरो ।  
सहसा पयडीभूओ भासुर-दित्ती तहिं तियसो ॥१८४॥

संस्कृत छाया :-

केयूर-हार-अङ्गद-विराजमानो मनोहर-शरीरः ।  
सहसा प्रकटीभूतो भासुर दीप्तिस्तत्र त्रिदशः ॥१८४॥

गुजराती अर्थ :- बाजुबंध, हार, कड़ा विगरे आभूषणों थी शोभतो सुन्दर  
शरीरवालो, देदीप्यमान कान्तिवालो, “देव” तत्काल त्यां प्रगट थयो।

हिन्दी अनुवाद :- बाजुबंध, हार, कड़ा आदि आभूषणों से शोभित, सुंदर शरीरवाला,  
देदीप्यमान कान्तिवाला, देव तत्काल प्रगट हुआ।

गाहा :-

देवेण तेण भणियं निसुणह एयस्स वइयरं भद्दा! ।  
अवियाणिय-परमत्था करेह किं बहुविह-विगप्ये? ॥१८५॥

संस्कृत छाया :-

देवेन तेन भणितं निःशृणुत एतस्य व्यतिकरं भद्राः ।  
अविज्ञात-परमार्था कुरुथ किं बहुविध-विकल्पान् ॥१८५॥

गुजराती अर्थ :- ते देवे कहयुं हे भद्र लोको! आनुं स्वरूप तमे सांभलो  
रहस्यने नहि जाणता तमे घणा प्रकारना विकल्पो केम करो छो?

हिन्दी अनुवाद :- तथा उस देव ने कहा - हे भद्र लोगों! आप इसका स्वरूप सुनिए,  
रहस्य को नहीं जानते हुए आप व्यर्थ ही बहुत से विकल्प क्यों करते हैं?

गाहा :- परपुरुष दसांत

एसो हु पावकारी सुमंगलो नाम नहयरो आसि ।  
साहिय-बहुविह-विज्जो विज्जाहर-नयर-सुपसिद्धो ॥१८६॥

संस्कृत छाया :-

एष खलु पापकारी सुमङ्गलो नामा नभश्चरोऽऽसीत् ।

साधित-बहुविधविद्यो विद्याधरनगरसुप्रसिद्धः ॥१८६॥

गुजराती अर्थ :- विद्याधरनगरमां सुप्रसिद्ध, साधेली घणी विद्यावालो, तथा पापने आचरनारो। सुमंगल नामनो आ विद्याधर छे।

हिन्दी अनुवाद :- विद्याधर क्षेत्र में सुप्रसिद्ध, जिसने बहुत सारी विद्याएं सिद्ध की हैं तथा पाप का आचरण करने वाला यह सुमंगल नाम का विद्याधर है।

गाथा :-

अह अन्नया कयाइवि भममाणो इच्छिएसु नयरेसु ।

एसा इत्थ पुरीए समागओ जोव्वणुम्मत्तो ॥१८७॥

संस्कृत छाया :-

अथान्यदा कदाचिदपि भ्रमन् इच्छितेषु नगरेषु ।

एषोऽत्र पुर्या समागतो यौवनोन्मत्तः ॥१८७॥

गुजराती अर्थ :- हवे एक वखत वयारेक मनगमतां नगरोमां भमतो यौवन थी उन्मत्त थयेलो आ, नगरीमां अहीं आल्यो।

हिन्दी अनुवाद :- अब एक बार यौवन के मद से उन्मत्त बना हुआ मनचाहे नगरों में घूमते-घूमते यह इस नगरी में आया।

गाथा :-

हम्मिय-तलमारूढा ण्हाणुत्तिन्ना हु वसुमई एसा ।

गयण-द्विण दिट्ठा इमेण सुइरं च निज्झाया ॥१८८॥

संस्कृत छाया :-

हर्म्यतलारूढा स्नानोत्तीणा खलु वसुमती एषा ।

गगनस्थितेन दृष्टा अनेन सुचिरं च निध्याता ॥१८८॥

गुजराती अर्थ :- महेलनी छत उपर रहेली अने स्नानथी निवृत्त थयेली आ वसुमतीने गगनमां रहेला एणे जोई अने लांबा काल सुधी एकीटसे नीरखी।

हिन्दी अनुवाद :- और इधर वसुमती स्नान कर के तुरंत ही छत पर आयी तब गगन में स्थिर होकर इसने वसुमती को बहुत समय तक एक नजर से देखा!

गाथा :-

दट्ठुं इमीए रूवं खुहियं अह माणसं तु एयस्स ।

काउं धणवइ-रूवं अवयरिओ इत्थ गेहम्मि ॥१८९॥

संस्कृत छाया :-

दृष्ट्वाऽस्या रूपं क्षुभित-मथ मानसं तु एतस्य ।

कृत्वा धनपति-रूप-मवतीर्णोऽत्र गृहे ॥१८९॥

गुजराती अर्थ :- हवे एणीना रूप ने जोई ने आनु मन चलित थयुं तथा धनपतिना रूपने करीने अहीं आ घरमां उतर्यो।

हिन्दी अनुवाद :- अब इनके रूप को देखकर इसका मन क्षुभित हुआ, तथा वह धनपति के रूप को धारण कर यहाँ इस घर में उतरा।

गाहा :-

अवियाणिय-परमत्था भुक्ता अह वसुमई इमेणावि ।

सुरयम्मि रंजिय-मणो चिंतइ एवं महा-पावो ॥१९०॥

संस्कृत छाया :-

अविज्ञात-परमार्था भुक्ताऽथ वसुमती अनेनापि ।

सुरते रञ्जितमनश्चिन्तयति एवं महापापः ॥१९०॥

गुजराती अर्थ :- रहस्यथी अजाणी एवी आ वसुमती आना वड़े पण भोगवाई। सुरतमां आसक्त मनवालो आ पापी आ प्रमाणे विचारे छे।

हिन्दी अनुवाद :- वास्तविक स्वरूप को नहीं जानने वाली वसुमती का इसने सेवन किया, सुरत क्रीड़ा में आसक्त चित्तवाले इस पापी ने इस तरह सोचा।

गाहा :-

धणवइ-रूवेण ठिओ अन्नाओ एत्थ सयल-लोएण ।

एईए वर-तणूए समयं सेवामि सुरय-सुहं ॥१९१॥

संस्कृत छाया :-

धनपतिरूपेण स्थितोऽज्ञातोऽत्र सकललोकेन ।

एतया वरतन्वा समकं सेवे सुरतसुखम् ॥१९१॥

गुजराती अर्थ :- बधा लोको वड़े नही जणायेलो, धनपतिना रूप वड़े अहीं रहेलो, हुं, आ श्रेष्ठ कन्या साथे रति सुख सेवुं।

हिन्दी अनुवाद :- सकल लोक से अज्ञात मैं धनपति का रूप धरकर के यहीं रहकर इस सुन्दर कन्या के साथ रति सुख का सेवन करूँ?

गाहा :-

विज्जाहरीहिं किंवा मह कज्जं किं व अन्न-जुवईहिं ।

सोहग्ग-निहाणए पत्ताए इमाए महिलाए? ॥१९२॥

संस्कृत छाया :-

विद्याधरीभिः किं वा मे कार्यं? किं वाऽन्य युवतिभिः ।

सौभाग्य-निधानायां प्राप्तायाँ अस्यां महिलायाम् ॥१९२॥

गुजराती अर्थ :- सौभाग्यना भण्डार जेवी आ रूमी प्राप्त थाय तो मारे विद्याधरीओ के अन्य युवतिओ के नुं काम?

हिन्दी अनुवाद :- सौभाग्य के भंडार जैसी यह युवती मुझे प्राप्त हो जाय तो विद्याधरियों से अथवा अन्य युवतियों से मुझे भी क्या काम?

गाहा :-

एवं विचिंतिकुणं अवहरिओ धणवई इमेणं तु ।

नेऊण भरह-खित्ते मुक्को उ विणीय-नयरीए ॥१९३॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्य अपहृतो धनपतिरनेन तु ।

नीत्वा भरतक्षेत्रे मुक्तस्तु विनीतानगर्याम् ॥१९३॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे विचारी ने आना वड़े अपहरण करायेलो धनपति भरत क्षेत्रमां विनीता नगरीमां लई जई ने मुक्कवामां आव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार सोचकर इसने भरतक्षेत्र के विनीता नगरी में अपहरण किये धनपति को ले जाकर छोड़ दिया।

गाहा :-

पच्छाइय निय-रूवं धणवइ-रूवं विहित्तु विज्जाए ।

वसुमइ-सुरयासत्तो एसो सो चिट्ठई इत्थ ॥१९४॥

संस्कृत छाया :-

प्रच्छादितो निजरूपं धनपतिरूपं विधाय विद्यया ।

वसुमती-सुरतासक्त एष सा तिष्ठत्यत्र ॥१९४॥

गुजराती अर्थ :- विद्या वड़े ढांकेला पोताना रूपवालो, धनपतिनुं रूप करीने वसुमती साथे रति क्रीडामां आसक्त ते आ पुरुष अही रहेलो छे।

हिन्दी अनुवाद :- विद्या द्वारा अपने रूप को छुपाकर, धनपति के रूप को लेकर के वसुमति के साथ रतिक्रीडा में आसक्त यह पुरुष यहाँ है।

गाहा :-

सोवि हु धणवइ-वणिओ विणीय-नयरीए पाविओ वरओ ।

दट्ठुं अउव्व-नयरिं विम्हिय-हियओ विचिंतेइ ॥१९५॥

संस्कृत छाया :-

सोऽपि खलु धनपति-वणिजो विनीतनगर्यां प्राप्तो वराकः ।

दृष्ट्वाऽपूर्व-नगरिं विस्मित-हृदयो विचिन्तयति ॥१९५॥

गुजराती अर्थ :- विनीता नगरीमां आवेलो ते पण बीचारो धनपति वाणियो अपूर्व नगरी ने जोई ने आश्चर्यचकित हृदय वालो विचारे छे।  
**हिन्दी अनुवाद :-** इधर विनीता नगरी में आया हुआ धनपति वणिक् भी इस अपूर्व नगरी को देखकर विस्मित हृदय से इस प्रकार सोचता है।

गाहा :-

का एसा वर-नयरी कथ व सा मेहलावई नयरी ।

किं केण व अवहरिओ पेच्छामि व सुमिणयं एयं? ॥१९६॥

संस्कृत छाया :-

का एषा वरनगरी? कुत्र वा सा मेखलावती नगरी।

किं केन वा अपहृतः प्रेक्षेवा स्वप्नमेतत् ॥१९६॥

गुजराती अर्थ :- आ श्रेष्ठ नगरी कई छे? अथवा मेखलावती नगरी क्यां छे? अथवा शु कोई ना वड़े हुं हरायो छुं के आ स्वप्न जोइ रह्योछुं।

**हिन्दी अनुवाद :-** यह उत्तम नगरी कौन सी है? अथवा मेखलावती नगरी कहाँ है? अथवा क्या किसी ने मुझे उठाकर यहाँ रखा है? या यह कोई स्वप्न देख रहा हूँ?

गाहा :-

एवं विचिंतयंतो बाहिं नयरीए जाव परिभमइ ।

तावय पवरुज्जाणे समोसढो केवली दिट्ठो ॥१९७॥

सिरि-उसहनाह-जिणवर-वंस-पसूओ तिलोय-विक्खाओ ।

नामेण दंडविरओ राय-रिसी मुणि-गण समेओ ॥१९८॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्तयन् बहि-र्नगर्यां यावत् परिभ्रमति ।

तावच्च प्रवरोद्याने समवसृतः केवली दृष्टः ॥१९७॥

श्रीऋषभनाथ-जिनवरवंश-प्रसूतस्त्रिलोकविख्यातः ।

नाम्ना दण्डवीर्यो राजर्षिर्मुनिगणसमेतः ॥१९८॥ युगम्

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे विचारतो नगरीनी बहार ज्यां सुधी भमे छे त्यां सुधीमां श्रेष्ठ उद्यानमां देवो वडे रचायेला ऋण गढ़वाला समवसरणमां।

श्री ऋषभनाथ जिनवरना वंशमां उत्पन्न थयेला ऋण लोक मां विख्यात, वड़े राजर्षि दण्डवीर्य नामना केवली भगवंतने मुनिगण साथे जोया।

**हिन्दी अनुवाद :-** इस प्रकार सोचता हुआ जब तक नगर के बाहर घूमता है तब तक उत्तम उद्यान में देवों द्वारा निर्मित तीन गढ़वाले समवसरण में विराजित श्री ऋषभदेव प्रभु के वंश परंपरा में आए हुए, तीन लोक में विख्यात, मुनिगण से युक्त राजर्षि दण्डवीर्य केवली भगवंत दृष्टिपथ में आये।



गाहा :-

तं ददु जाय-तोसो कारुण पयाहिणं तु तिक्खुत्तो ।

पणमिय केवल्लि-चलणे उवविट्ठो उच्चिय-देसम्मि ॥१९९॥

संस्कृत छाया :-

तं दृष्ट्वा जाततोषः कृत्वा प्रदक्षिणां तु त्रिकृत्वः ।

प्रणम्य केवलीचरणानुपविष्ट उचितदेशे ॥१९९॥

गुजराती अर्थ :- तेमने जोई ने हर्षित थयेलो ते त्रणवार प्रदक्षिणा करीने, केवलीना चरणमां वंदन करीने उचित स्थाने बेठो।

हिन्दी अनुवाद :- उनको देखकर हर्षित वह तीन बार प्रदक्षिणा कर के केवली के चरण में नमस्कार कर के उचित स्थान पर बैठा।

गाहा :-

नारुण य पत्थावं विहिय-पणामेण तेण संलत्तं ।

केण अहं अवहरिओ भयवं! किं वा इमं खित्तं? ॥२००॥

का वा एसा नयरी एवं पुट्टेण भगवया तस्स ।

धणवइणो पुव्वुत्तं सव्वंपि हु साहियं तइया ॥२०१॥

संस्कृत छाया :-

ज्ञात्वा च प्रस्तावं विहितप्रणामेन तेन संलप्तम् ।

केनाहमपहृतो भगवन् ! किं वेदं क्षेत्रम् ॥२००॥

का वा एषा नगरी एवं पृष्टेन भगवता तस्य ।

धनपतेः पूर्वोक्तं सर्वमपि खलु कथितं तदा ॥२०१॥

गुजराती अर्थ :- अवसर ने जाणीने प्रणाम करीने तेणे सारी रीते पूछ्युं हे। भगवन्! हुं कोना वडे हरायो छुं? अथवा आ क्षेत्र कयुं छे? अथवा आ नगरी कइ छे? आ प्रमाणे पूछायेला भगवंते ते धनपति ने त्यारे पूर्वोक्त सघणो वृत्तांत कहयो।

हिन्दी अनुवाद :- अवसर को जानकर किए हुए प्रणामवाला उसने पूछा- हे भगवान्! मेरा अपहरण किसने किया? अथवा यह क्षेत्र कौन-सा है? अथवा यह नगरी कौन-सी है? इस प्रकार पूछे गये भगवंत ने तब धनपति को पूर्वोक्त सभी बातें बताईं।

गाहा :-

विन्नाय-सरूवो सो भज्जा-पिइ-माइ-बंधु-परिहीणो ।

गुरु-सोग-समावन्नो केवलिणा एरिसं भणिओ ॥२०२॥

संस्कृत छाया :-

विज्ञात-स्वरूपः स भार्या-पिता-माता-बन्धु-परिहीनः।

गुरुशोक-समापन्नः केवलीनेदृक्षं भणितः ॥२०२॥

गुजराती अर्थ :- पोताना स्वरूपने जाणेलो, पत्नी-पिता-माता-बन्धु बगेरे थी रहित, अत्यंत शोक मग्न थयेला तेने त्यारे केवली भगवंते आ प्रमाणे कह्यु।

हिन्दी अनुवाद :- अपने स्वरूप को जानने वाला, पत्नी - पिता - माता - बन्धु आदि से विहीन बहुत शोक करने लगा तब केवली भगवंत ने इस प्रकार कहा -

गाहा :-

मा भद्र! कुणसु सोयं एरिसओ चैव एस संसारो ।

इद्व-वियोगा-ऽणिद्व-प्यओग-दुक्खेहिं संकिन्नो ॥२०३॥

संस्कृत छाया :-

मा भद्र! कुरु शोकमीदृशश्चैव एष संसारः ।

इष्ट-वियोगाऽनिष्टप्रयोग-दुःखैः सङ्कीर्णः ॥२०३॥

गुजराती अर्थ :- हे भद्र! तूं आवा प्रकारनो शोक न कर, निश्चे आ संसार प्रियजनना वियोग अने अप्रिय जनना संयोग रूपी दुःखोथी भरेलो ज होय छे।

हिन्दी अनुवाद :- 'हे भद्र! तू इस प्रकार शोक मत कर, निश्चय ही यह संसार ऐसे प्रियजन के वियोग और अप्रियजन के संयोग रूपी दुःखों से भरापुरा है।

गाहा :-

एयम्मि वसंताणं जीवाणं विसय-मोहिय-मणाणं ।

संजोग-विप्पओगा अणंतसो भद्द ! जायंति ॥२०४॥

संस्कृत छाया :-

एतस्मिन् वसतां जीवानां विषयमोहितमनसाम् ।

संयोग-विप्रयोगानन्तशो भद्र! जायन्ते ॥२०४॥

गुजराती अर्थ :- विषय थी मोहित मनवाला जीवोने आ संसारमां रहेता हे भद्र! अनंता संयोग-वियोगो थया छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे भद्र! विषय के मोह से मूर्च्छित मनवाले जीवों को इस संसार में रहते अनंतबार संयोग-वियोग होता है।

गाहा :-

परमत्थओ य दुक्खं जायइ निय-दुद्व-कम्मणा जणियं ।

हवइ हु निमित्त-मित्तं सेसं पुण बज्झ-अत्थम्मि ॥२०५॥

संस्कृत छाया :-

परमार्थतश्च दुःखं जायते निजदुष्टकर्मणा जनितम् ।

भवति खलु निमित्तमात्रं शेषं पुनः बाह्यार्थे ॥२०५॥

गुजराती अर्थ :- खरेखर पोताना दुष्ट कर्मथी ज दुःख उत्पन्न थयेलु होय छे, बाह्य सुख-दुःखादिमां बीजा बधा तो निमित्त मात्र ज होय छे।

हिन्दी अनुवाद :- वास्तव में खुद के दुष्ट कर्म से ही दुःख आता है। बाह्य सुख-दुःखादि में अन्य सभी तो निमित्तमात्र ही हैं (परमार्थ से तो इस संसार में दुःख ही है।)

गाहा :-

ता तेण नहयरेणं न मज्झ परमत्थओ कयं दुक्खं ।

किंतु निय-कम्म-जणियं एवं भावेसु निय-चित्ते ॥२०६॥

संस्कृत छाया :-

ततस्तेन नभश्चरेण न मे परमार्थतः कृतं दुःखम् ।

किन्तु निजकर्मजनितमेवं भावय निजचित्ते ॥२०६॥

गुजराती अर्थ :- तेथी ते विद्याधरे मने परमार्थथी तो दुःख नथी आप्यु, परंतु मारा पोताना कर्म थी ज थयु छे आ प्रमाणे तुं तारा चित्तमां विचार कर।

हिन्दी अनुवाद :- अतः उस विद्याधर ने सही रीति से मुझे दुःख नहीं दिया है किंतु मेरे कर्म से ही हुआ है इस प्रकार तू अपने चित्त में विचार कर।

गाहा :- अवि य

पत्थरेणाहओ कीवो पत्थरं डक्कुमिच्छई ।

मिगारिओ सरं पप्य सरुप्पत्तिं विमग्गई ॥२०७॥

संस्कृत छाया :- अपि च

प्रस्तरेणाऽऽहतः क्लीबः प्रस्तरं दंष्टुमिच्छति ।

मृगारि, शरं प्राप्य शरोत्पत्तिं विमार्गयति ॥२०७॥

गुजराती अर्थ :- पत्थर वड़े हणायेलो कायर (उपलक्षणथी कुतरो) पत्थर ने बट्कु भरवा माटे इच्छे छे, ज्यारे सिंह बाण ने प्राप्त करी ने बाण ना मूल स्थलने जुवे छे।

हिन्दी अनुवाद :- पत्थर से मारा गया कायर प्राणी (कुत्ता) पत्थर को ही मारने की चेष्टा करता है और मृगारि (सिंह) आये हुए बाण को देखकर बाण कहाँ से आया ऐसा देखता है।

गाहा :-

ता भद्र! जिणाणाए कम्म-समुच्छेयणम्मि उज्जमसु।

तत्तो विलीण-कम्मो पाविहिसि न एरिसं दुक्खं ॥२०८॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् भद्र! जिनाज्ञया कर्मसमुच्छेदने उद्यच्छ।

ततो विलीनकर्मा प्राप्स्यसि नेदृग् दुःखम् ॥२०८॥

गुजराती अर्थ :- तेथी हे भद्र! परमात्मान्नी आज्ञा वडे कर्मनो नाश करवा माटे, उद्यम कर! जेथी करीने क्षीण थयेला कर्मवालो तूं आवा दुःखने नहीं पावे।

हिन्दी अनुवाद :- अतः हे भद्र! परमात्मा की आज्ञा से कर्मनाश के लिए तू उद्यम कर! और कर्म नष्ट होने से पुनः तुम इस प्रकार के दुःख नहीं पाओगे।

गाहा :-

इय केवलिणा भणिओ पडिबुद्धो धणबई इमं भणइ।

इच्छामो अणुसट्ठिं पव्वज्जं देह मे भयवं! ॥२०९॥

संस्कृत छाया :-

इति केवलीना भणितः प्रतिबुद्धो धनपति-रिदं भणति।

इच्छामि अनुशास्तिं प्रव्रज्यां देहि मे भगवन्! ॥२०९॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे केवली भगवंत वडे प्रेरणा करायेला, बोध पावेल्ला, धनपतिअ आ प्रमाणे प्रार्थना करी, हे भगवन् ! हुं अनुशास्तन इच्छुं तुं तेथी मने दीक्षा आपो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार केवली भगवंत द्वारा बोधित धनपति कहता है हे भगवन् ! मैं अनुशासन चाहता हूँ। अतः मुझे दीक्षा दीजिए।

गाहा :-

केवलिणा से दिन्ना पव्वज्जा सव्व-पाव-मल-हरणी।

अह जाओ सो समणे सामन्न-गुणेहिं उववेओ ॥२१०॥

संस्कृत छाया :-

केवलीना तस्मै दत्ता प्रव्रज्या सर्वपापमल हरणी।

अथ जातः स श्रमणः श्रामण्यगुणैरूपेतः ॥२१०॥

गुजराती अर्थ :- केवली भगवंते सर्व पापरूपी मल ने हरनारी प्रव्रज्या तेने आपी, हवे ते श्रमण-पणाना गुणोथी युक्त साधु थयो।

हिन्दी अनुवाद :- सर्वपाप के मल को दूर करनेवाली दीक्षा केवली भगवंत ने उसे दी और वह श्रमण गुणोंवाला साधु बना।

गाहा :-

पुव्व-सय-सहस्साइं तीसं काऊण उग्ग-तव-चरणं ।

तेमासियं च काऊण अणसणं चत्त-देहो सो ॥२११॥

उववण्णो ईसाणे अच्छर-गण-संकुले विमाणम्मि ।

चंदज्जुणाभिहाणे देवो चंदज्जुणो नाम ॥२१२॥ युग्गम् ।

संस्कृत छाया :-

पूर्वशतसहस्राणि त्रिंशत् कृत्वा उग्र-तपश्चरणम् ।

त्रैमासिकं च कृत्वा अनशनं त्यक्तदेहः सः ॥२११॥

उपपन्न ईशानेऽप्सरागण-सङ्कुले विमाने ।

चन्द्रार्जुनाभिधाने देवश्चन्द्रार्जुनो नाम ॥२१२॥ युग्गम् ।

गुजराती अर्थ :- त्रींश लाख पूर्व चुधी उग्र तपयुक्त चारित्र पालीने अन्ते त्रण मासनुं अनशन करीने छोडेला देहवाळो ते ईशान देवलोकमां चन्द्रार्जुन नामना विमानमां अप्सराओ साथेनो चन्द्रार्जुन नामनो देव थयो।

हिन्दी अनुवाद :- तीस लाख पूर्व तक उग्र तपयुक्त चारित्र का पालन करके अन्त में तीन मास का अनशन कर के आयु पूर्ण होने पर ईशान देवलोक में अप्सरागण से युक्त चन्द्रार्जुन नाम के विमान में चन्द्रार्जुन नाम का देव बना।

गाहा :-

ओहिन्नाणेण तओ नारुणं सयल-नियय-वुत्तंतं ।

सो हं भो भो भद्दा! समागओ एत्थ नयरीए ॥२१३॥

संस्कृत छाया :-

अवधिज्ञानेन तस्माद् ज्ञात्वा सकल-निजवृत्तान्तम् ।

सोऽहं भो! भो! भद्राः! समागतोऽत्र नगर्याम् ॥२१३॥

गुजराती अर्थ :- तयार पछी अवधिज्ञान वडे पोतानो सम्पूर्ण वृत्तान्त जाणी ने हे! हे! भद्रलोको! ते हुं अहीं आ नगरीमां आव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- बाद में अवधिज्ञान से अपने सम्पूर्ण चारित्र को जानकर हे महानुभावो! मैं यहाँ इस नगरी में आया हूँ।

गाहा :-

वसुमइ-कंठ-विलग्गो सयणीय-गओ पसुत्तओ दिट्ठो ।

पच्छाइय-निय-रूवो घणवइ-रूवेण एस ठिओ ॥२१४॥

संस्कृत छाया :-

वसुमती-कण्ठ-विलग्नः शयनीय-गतः प्रसुप्तको दृष्टः ।

प्रच्छादित-निजरूपो धनपतिरूपेणैष स्थितः ॥२१४॥

गुजराती अर्थ :- वसुमतीना गणे लागेलो, शय्यामां रहेलो, छुपावेला पोताना रूपवालो अने धनपतिना रूपे रहेला तेने पथारीमां सूतेलो जोयो।  
हिन्दी अनुवाद :- वसुमती के कण्ठ में लगा हुआ, शय्या में रहे हुए तथा अपने रूप को छुपाकर धनपति के रूप में रहे उसको शय्या में सोते हुये देखा।

गाहा :-

जाओ य मज्झ कोवो तव्वसओ चिंतियं मए एयं ।

मारेमि इमं पावं मह दइयाए सह पसुत्तं ॥२१५॥

संस्कृत छाया :-

जातश्च मम कोपस्तद्वशतः चिन्तितं मया एतद् ।

मारयामीमं पापं मे दयितया सह प्रसुप्तम् ॥२१५॥

गुजराती अर्थ :- ते कारण थी मने गुरूजो आव्यो, अने में आवु विचार्युं के मारी पत्नी साथे सूतेला आ पापीने मारी नांखु।

हिन्दी अनुवाद :- अतः मुझे गुस्सा आया और मैंने सोचा कि मेरी पत्नी के साथ सोए हुए इसको मैं मार डालूं।

गाहा :-

जणणि-जणयाण अहवा जाणावित्ता य सयल-लोयस्स ।

एयस्स दुट्ठ-चरियं काहामि विणिग्गहं पच्छा ॥२१६॥

संस्कृत छाया :-

जननी-जनकयो-रथवा ज्ञापयित्वा च सकललोकस्य ।

एतस्य दुष्टचरितं करिष्यामि विनिग्रहं पश्चात् ॥२१६॥

गुजराती अर्थ :- अथवा माता-पिताने अने सकल लोकने आना दुष्ट चरित्रने जणावीने पछी थी हुं तेने दंडीशा।

हिन्दी अनुवाद :- अथवा मेरे माता-पिता एवं सब लोगों को इस का दुष्टचरित्र ज्ञात होने के बाद में इसका निग्रह करूं।

गाहा :-

एवं विचिंतिऊणं अवहरियाओ इमस्स पावस्स ।

सव्वाओ विज्जाओ जाओ य इमो सभाव-त्थो ॥२१७॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्यापहृता अस्य पापस्य ।

सर्वा विद्या जातश्चायं स्वभावस्थः ॥२१७॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे विचारीने आ पापीनी सद्यली विद्या हरी लीधी, अने आ मूल स्वरूप वालो थयो।

**हिन्दी अनुवाद :-** इस प्रकार सोचकर इस पापी की सभी विद्याएं मैंने ले ली। इस कारण से यह मूल स्वरूप में आ गया!

**गाहा :-**

तत्तो य वसुमईए सहसा निद्रा मए खयं नीया ।

एईए विबुद्धाए नायं जह एस पर-पुरिसो ॥२१८॥

**संस्कृत छाया :-**

ततश्च वसुमत्याः सहसा निद्रा मया क्षयं नीता ॥

अनया विबुद्धया ज्ञातं यथा एषः परपुरुषः ॥२१८॥

**गुजराती अर्थ :-** त्याच पछी में वसुमतीनी निद्राने हरी, जागेली एवी एणीए आ परपुरुष छे तेम जाण्युं॥

**हिन्दी अनुवाद :-** बाद में मैंने वसुमती की नींद दूर की। जगी हुई उसने जाना की यह पर पुरुष है।

**गाहा :-**

गंतूण सासुयाए सिद्धा वत्ता इमीइ सव्वावि ।

तत्तो सुदंसणाए दट्ठूण इमं कओ रोलो १ ॥२१९॥

**संस्कृत छाया :-**

गत्वा श्वश्र्वाः शिष्टा वार्ता अनया सर्वाऽपि ।

ततः सुदर्शनया दृष्ट्वा इमं कृतो रवः ॥२१९॥

**गुजराती अर्थ :-** सासु पासे जइने एणीए बधी वात श्णावी त्याच पछी सुदर्शनाए ते पुरुषने जोईने पोकार कय्यो।

**हिन्दी अनुवाद :-** सास के पास जाकर उसने सभी बात कही तब सुदर्शना ने वहाँ आकर उस अन्य पुरुष को देखकर कोलाहल किया!

**गाहा :-**

पडिबुद्धेण इमेणावि तेणिह अंबा सुदंसणा भणिया ।

सोउं निट्ठुर-वयणं पलोइयं नियय-देहं तु ॥२२०॥

**संस्कृत छाया :-**

प्रतिबुद्धेनानेनापि तेनेह अम्बा सुदर्शना भणिता ।

श्रुत्वा निष्ठुरवचनं प्रलोकितं निजदेहं तु ॥२२०॥

**गुजराती अर्थ :-** ते कारणथी जागेला एवा आ पुरुषे अत्यारे सुदर्शना माता कही पछी तेणीना निष्ठुर वचन सांभळी ने पोताना देहने जोयो।

१. रोलो = कोलाहल:

**हिन्दी अनुवाद :-** उस कारण से कोलाहल से जगा हुआ यह पुरुष अभी सुदर्शना को माता कहने के बाद माता के कठोर वचन सुनकर अपने देह को देखने लगा।

**गाहा :-**

दट्ठूण पुव्व-रूवं निय-देहं विमिओ इमो चित्ते ।

मह विज्जाए पभावो अवहरिओ केण अज्जत्ति? ॥२२१॥

**संस्कृत छाया :-**

दृष्ट्वा पूर्वरूपं निजदेहं विस्मितोऽयं चित्ते ।

मे विद्यायाः प्रभावोऽपहृतः केनाद्येति? ॥२२१॥

**गुजराती अर्थ :-** पूर्वरूप वाला पोताना देहने जोईने आ मनमां विस्मित थयो के आजे मारी विद्यानो प्रभाव कोणे हरी लीधो?

**हिन्दी अनुवाद :-** मूल स्वरूप में स्वयं के देह को देखकर वह मन में विस्मित हुआ कि आज मेरी विद्या का प्रभाव किसने हर लिया?

**गाहा :-**

एवं विचिंतिऊणं उप्पइउमणेण ताहि एएण ।

निय-विज्जा संभरिया पवरा नहगामिणी नाम ॥२२२॥

**संस्कृत छाया :-**

एवं विचिन्त्य उत्पतितु-मनसा तदा एनेन ।

निजविद्यासंस्मृता प्रवरा नभोगामिनी नाम्नी ॥२२२॥

**गुजराती अर्थ :-** आ प्रमाणे विचारीने उडवानी इच्छावाला तेणे त्यारे आकाशगामिनी नामनी पोतानी श्रेष्ठ विद्यानुं स्मरण कर्युं!

**हिन्दी अनुवाद :-** इस प्रकार सोचकर उड़ने के लिए उसने आकाशगामिनी नाम की अपनी श्रेष्ठ विद्या का स्मरण किया!

**गाहा :-**

तहवि हु उप्पइऊणं जाहे न चएइ ताहि विन्नायं ।

कुविण मज्झ केणवि विज्जा-च्छेओ कओऽवस्सं ॥२२३॥

**संस्कृत छाया :-**

तथापि खलूत्पतितुं यदा न शक्नोति तदा विज्ञातम् ।

कुपितेन मम केनापि विद्याच्छेदः कृतोऽवश्यम् ॥२२३॥

**गुजराती अर्थ :-** तो पण निश्चे उडवा माटे ज्यारे ते समर्थ न थयो त्यारे तेणे जाण्युं के कुपित थयेला कोइए अवश्य मारी विद्यानो छेद कर्यो छे।



**हिन्दी अनुवाद :-** फिर भी वह तनिक भी उड़ने के लिए समर्थ नहीं हुआ, तब उसने जान लिया की कुपित होकर किसी ने अवश्य मेरी विद्या हर ली है।

**गाहा :-**

तेणेव सभावस्थो जाओ न चएमि गयणमुप्पइउं ।

एवं विगप्पयंतो एसो दीणत्तणं पत्तो ॥२२४॥

**संस्कृत छाया :-**

तेनैव स्वभावस्थो जातो न शकनोमि गगनमुत्पतितुम् ।

एवं विकल्पयन्नेष दीनत्वं प्राप्तः ॥२२४॥

**गुजराती अर्थ :-** तेथी ज मूल स्वरूपमां आवेलो हुं आकाशमां उडवा माटे समर्थ नथी थतो ए प्रमाणे विचार करतो ए दीनपणु पाम्यो।

**हिन्दी अनुवाद :-** इसीलिए ही मूलस्वरूपवाला मैं आकाश में उड़ नहीं सकता हूँ, इस प्रकार सोचकर उसने दीनता को प्राप्त की।

**गाहा :-**

एवं पिय-सहि ! धारिणि ! सोउं तियसस्स भासियं तस्स ।

सेट्ठी समुद्रदत्तो सुदंसणा सावि से भज्जा ॥२२५॥

आलिंगिय तं देवं अइगुरु-सुय-दुक्ख-दलिय-हिययाइं ।

दीहर-सरेण दोण्णिवि करुणं रोत्तुं पवत्ताइं ॥२२६॥

**संस्कृत छाया :-**

एवं प्रियसखे! धारीणि! श्रुत्वा त्रिदशस्य भाषितं तस्य।

श्रेष्ठी समुद्रदत्तः सुदर्शना सापि तस्य भार्या ॥२२५॥

आलीङ्गय तं देवमतिगुरुसुत-दुःखदलितहृदयो।

दीर्घस्वरेण द्वावपि करुणं रोदितुं प्रवृत्तौ ॥२२६॥ युग्मम्

**गुजराती अर्थ :-** ए प्रमाणे हे प्रियसखी! धारिणी! ते देवन्तुं कहेलु सांभली ने श्रेष्ठी समुद्रदत्त, तेनी पत्नी सुदर्शना पण ते देवने, व लगीने पुत्रना अति भाटे दुःख थी चिरायेला हृदयवाला बच्चे मोटा अवाज थी करुण रुदन करवा लाग्या। (प्राकृतना कारणे नपु० लिङ्ग छे)

**हिन्दी अनुवाद :-** हे ! प्रिय सखी! धारिणी! इस प्रकार देव का कहा सुनकर श्रेष्ठी समुद्रदत्त, उनकी पत्नी सुदर्शना, (माता-पिता) भी उस देव को पकड़ कर पुत्र वियोग के दुःख से भग्न हृदयवाले वे दोनों जोर-जोर से करुण रुदन करने लगे!

**गाहा :-**

तह तेहिं तत्थ रुत्तं करुण-पलावेहिं नेह-भरिएहिं ।

जह सो समागय-जणो सब्बोवि हु रोविउं लग्गो ॥२२७॥

संस्कृत छाया :-

तया ताभ्यां तत्र रुदितं करुणप्रलापैः स्नेह भृतैः ।

यथा स समागतजनः सर्वोऽपि खलु रोदितुं लग्नः ॥२२७॥

गुजराती अर्थ :- स्नेहथी भरेला करुण प्रलापोथी ते बे वडे त्यां ते प्रमाणे रुदन करायु के जेथी त्यां आवेला बधा लोक पण रडवा लाग्या।  
हिन्दी अनुवाद :- स्नेह से पूरित करुण प्रलापों से युक्त उस माता-पिता ने इस तरह रुदन किया कि उपस्थित सभी लोग रोने लगे।

गाहा :-

सोऊण रुन्न-सहं सेड्डिस्स गिहम्मि नयर-वत्थव्वो ।

सव्वोवि हु संमिलिओ सबाल-वुद्धो जणो तत्थ ॥२२८॥

संस्कृत छाया :-

श्रुत्वा रुदितशब्दं श्रेष्ठिनो गृहे नगरवास्तव्यः ।

सर्वोऽपि खलु सम्मिलितः स बालवृद्धो जनस्तत्र ॥२२८॥

गुजराती अर्थ :- श्रेष्ठीना घरमां रडवाना अवाजने सांभलीने नगरमां रहेता बाल-वृद्ध सहित बधा लोको भेगा थई गया।  
हिन्दी अनुवाद :- श्रेष्ठी के घर में रुदन की आवाज सुनकर नगर में रहे सभी बाल-वृद्ध सहित इक्कट्टे हो गए।

गाहा :-

नाऊण य वुत्तंतं सव्वं अनुन्न-वज्जरिज्जंतं ।

अक्कोसंति बहुविहं सुमंगलं नयर-नारीओ ॥२२९॥

संस्कृत छाया :-

ज्ञात्वा च वृत्तान्तं सर्वमन्योन्यं कथ्यमानम् ।

आक्रोशन्ति बहुविधं सुमङ्गलं नगरनार्यः ॥२२९॥

गुजराती अर्थ :- परस्पर कहेवाता ते सर्व वृत्तान्तने जाणीने नगरनी स्त्रीओ घणा प्रकारे सुमंगल पर घणी रीते आक्रोश करती हती।

हिन्दी अनुवाद :- परस्पर एक दूसरे से कहे गये वृत्तान्त जानकर नगर की स्त्रियां सुमंगल पर बहुत आक्रोश करती थीं।

गाहा :-

एयस्स पडऊ विज्जू सुत्तो मा एस बुज्जउ पावो ।

निहोसोवि धणवई अवहरिओ जेण पावेण ॥२३०॥

संस्कृत छाया :-

एतस्मै पततु विद्युत् सुप्तो मा एष बुध्यतां पापः ।

निर्दोषोऽपि धनपतिरपहृतो येन पापेन ॥२३०॥

गुजराती अर्थ :- निर्दोष एवा धनपतिनुं जे आ पापी वडे अपहरण करायुं छे तेवा आनी उपर विजली पडे अथवा सूतेलो एवो आ पापी क्यारे पण जागे नहीं।

हिन्दी अनुवाद :- निर्दोष धनपति का जो इस पापी ने अपहरण किया है इसके लिए इस पर बिजली गिरे या सोया हुआ यह पापी कभी न जगे।

गाहा :-

हा! पाव! किं न आसी खयरीओ तुह सरूव-जुत्ताओ ।

मुद्दाए वसुमईए जेण तुमे खंडियं सीलं? ॥२३१॥

संस्कृत छाया :-

हा! पाप! किं नासीत् खेचर्यः ते स्वरूपयुक्ताः।

मुग्धाया वसुमत्या येन त्वया खण्डितं शीलम् ॥२३१॥

गुजराती अर्थ :- वली हे! पापी! तारे रूप-लावण्ययुक्त विद्याधरी स्त्रीयो शुं नथी? के जे कारणथी आ भोली वसुमतीना शीलनुं ते खण्डन कर्युं?

हिन्दी अनुवाद :- तथा हे पापी! रूप - लावण्य से युक्त विद्याधरी स्त्रियां क्या तेरे पास नहीं है? कि तूने इस भोली वसुमती के शील का खण्डन किया?

गाहा :-

ता पाव! इण्ह पावसु अणज्ज-कज्जम्मि निरय! निल्लज्ज!।

निय-दुच्चेट्टिय-सरिसं इह-पर-लोए फलं कडुयं ॥२३२॥

संस्कृत छाया :-

तस्मात् पाप! इदानीं प्राप्नुहि अनार्य-कार्ये निरत! निर्लज्ज।

निज-दुष्चेष्टित-सदृक्षमिहपरलोके फलं कटुकम् ॥२३२॥

गुजराती अर्थ :- ते कारणथी हे पापी! हे अनार्य कार्ये मां रक्त! निर्लज्ज! आ लोक तथा परलोकमां तुं पोताना दुष्ट आचरण समान कडवा फल ने भोगव।

हिन्दी अनुवाद :- अरे! पापी! निर्लज्ज! अनार्य कार्ये में रक्त! तू खुद के दुष्टचरित्र के आचरण समान कटु फल को इस लोक में और परलोक में प्राप्त कर।

गाहा :-

एयं न होइ जोग्गं नामं एयस्स दुट्ठ चरियस्स! ।

पावो अमंगलो एस जेण एयं कयं पावं ॥२३३॥

संस्कृत छाया :-

एतन्न भवति योग्यं नाम एतस्य दुष्टचरितस्य ।

पापोऽमङ्गल एष येनैतत् कृतं पापम् ॥२३३॥

गुजराती अर्थ :- आ दुष्ट चारित्रवालांनुं सुमंगल नाम पण योग्य नथी केमके एणे एवा प्रकारंनुं पाप कर्युं छे जेथी पापी अमङ्गल नामनो थयो छे! हिन्दी अनुवाद :- इस कुचारित्री का सुमंगल नाम भी योग्य नहीं है, क्योंकि स्वयं के किए हुए पाप से ही यह पापी अमङ्गल (नामवाला) हुआ है।

गाहा :-

कन्न-कडुएहिं एवं असब्भ-वयणेहिं तेण लोएणं ।

अक्कोसिओ स बहुहा सुदीण-वयणो तहिं वरओ ॥२३४॥

संस्कृत छाया :-

कर्णकटुकैरेवमसभ्य-वचनैस्तेन लोकेन ।

आक्रोशितः स बहुधा सुदीनवदनस्तत्र वराकः ॥२३४॥

गुजराती अर्थ :- आ रीते त्यां - ते अत्यंत दीन मुखवाळो बीचारो कर्णकटु असभ्य वचनोथी लोको द्वारा घणा प्रकारे तिरस्कृत थयो। हिन्दी अनुवाद :- इस तरह वहां बिचारा अत्यंत दीनमुखवाला- कर्णकटु असभ्यवचनों से लोगों के द्वारा तिरस्कृत हुआ है।

गाहा :-

तेणेव देवेण तहि माया-वित्ताइं रोवमाणाइं ।

अणुसासियाइं सम्मं तुण्हक्काइं तु जायाइं ॥२३५॥

संस्कृत छाया :-

तनैव देवेन तत्र मातापितरौ रूदन्तौ ।

अनुशासितौ सम्यक् तूष्णिकौ तु जातौ ॥२३५॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे ते पुत्र देवे रइता माता-पिताने सारी रीते समजावता तेओ शांत थया! (प्राकृतने कारणे मूलमां नपु. लिङ्ग छे।) हिन्दी अनुवाद :- तब पुत्र रूप देव द्वारा रोते हुए माता-पिता सम्यक् प्रकार से समझाकर शांत किये गये।

गाहा :-

ततो सुरेण भणिया मुंचंती थूल-अंसुय-पवाहं ।

भद्रे ! वसुमइ ! इण्हं को तुह हियस्स उच्छाहो? ॥२३६॥

संस्कृत छाया :-

ततः सुरेण भणिता मुञ्चन्ती स्थूलाश्रुप्रवाहम् ।

भद्रे! वसुमति! इदानीं कस्तव हृदयस्योत्साहः? ॥२३६॥

गुजराती अर्थ :- त्याच पछी मोटा-मोटा अश्रु प्रवाहने छोडती वसुमती ने देवे कहयुं। हे भद्रे! वसुमती! अत्याचे तारो हृदय नो उत्साह शुं छे?

हिन्दी अनुवाद :- बाद में मोटे-मोटे आंसू को बहाती हुई वसुमती से देव ने कहा- हे भद्रे! वसुमती! अभी तेरे हृदय का उत्साह कैसा है?

गाहा :-

अह तीए वज्जरियं लज्जाए समोणमंत-वयणाए ।

जं किंचि तुमं सामिय ! आइससि तहिं समुच्छाहो ॥२३७॥

संस्कृत छाया :-

अथ तथा कथितं लज्जया समवनत वदनया ।

यत्किञ्चित् त्वं स्वामिन्! आदिशसि तत्र समुत्साहः ॥२३७॥

गुजराती अर्थ :- त्याचे लज्जाशी नमेला मुखवाली तेणीए कहयुं - हे स्वामिन् ! जे कांई आप आदेश आपशो तेमां मारो उत्साह छे!

हिन्दी अनुवाद :- तब लज्जा से झुके मुखवाली उसने कहा - 'हे स्वामिन्! आप जो कुछ आदेश करेंगे उसमें मेरा उत्साह है।'

गाहा :-

भणियं सुरेण सुंदरि ! जइ एवं ता करेसु पव्वज्जं ।

जिण-वर-भणियं-धम्मं कम्म-महा-कंद-कोद्दालं ॥२३८॥

संस्कृत छाया :-

भणितं सुरेण सुन्दरि! यद्येवं तर्हि कुरु प्रव्रज्याम् ।

जिनवरभणितं धर्मं कर्म महाकन्दकुद्दालम् ॥२३८॥

गुजराती अर्थ :- त्याचे देवे कहयुं हे सुन्दरि! जो आ प्रमाणे होय तो तुं जिनेश्वर भगवंते कहेलो अने कर्म रूप मोटा मूल ने उखेलवा माटे कोदाली समान एवो दीक्षा रूपी धर्म स्वीकार।

हिन्दी अनुवाद :- तब देव ने कहा - 'हे सुन्दरि! यदि ऐसा ही है तो कर्मरूपी महाकंद को निर्मूल करने के लिए जिनेश्वर भगवंत द्वारा कथित सर्वविरति धर्म को स्वीकार कर।

गाहा :-

जइवि हु सुंदरि ! तुमए अयाणमाणाए एयमायरियं ।

तहवि हु इमस्स पावस्स ओसहं होड पव्वज्जा ॥२३९॥

संस्कृत छाया :-

यद्यपि खलु सुन्दरि! त्वया अजानन्त्या एतदाचरितम् ।

तथापि खल्वस्य पापस्यौषथं भवतु प्रव्रज्या ॥२३९॥

गुजराती अर्थ :- वली हे सुन्दरि! जो के अजाणता थी तें आ पाप आचर्युं छे, तो पण आ पाप नुं औषध निश्चे प्रव्रज्या थाओ।

हिन्दी अनुवाद :- हे! सुंदरि! यद्यपि तूने तो अज्ञानता से यह पाप किया है फिर भी इस पाप के लिए प्रव्रज्या ही औषध है।

गाहा :- पसुमताना दीक्षा

तत्तो य वसुमईए तहत्ति बहु मन्नियं तयं वयणं ।

महईए विभूईए निय-बंधव-अणुमया ताहे ॥२४०॥

तत्थेव य नयरीए सुहम्म-नामस्स पवर-सूरिस्स ।

मयहरियाए बहुविह-साहुणि-गण सेविय-कमाए ॥२४१॥

चंदजसा-नामाए समप्पिया सुर-वरेण सयमेव ।

तीएवि य आगम-विहिणा दिन्ना दिक्खा वसुमईए ॥२४२॥

त्रिभिः कुलकम्।

संस्कृत छाया :-

ततश्च वसुमत्या तथेति बहुमतं तर्कं वचनम् ।

महत्या विभूत्या निजबान्धवानुमता तदा ॥२४०॥

तत्रैव च नगर्यां सुधर्म-नाम्नः प्रवरसूरेः ।

महत्तरायै बहुविध साध्वीगण-सेवित-क्रमायैः ॥२४१॥

चन्द्रयशा नाम्न्यै समर्पिता सुरवरेण स्वयमेव ।

तयाऽपि च आगमविधिना दत्ता दीक्षा वसुमत्यै ॥२४२॥

गुजराती अर्थ :- तेथी वसुमतीए बहुमानपूर्वक ते वचन स्वीकार्युं, त्यारे अत्यंत ऋद्धिपूर्वक पोताना भाईओ पासेथी मेळवेली अनुज्ञावाली, ते ज नगरमां सुधर्म नामना प्रवरसूरीश्वरनी, घणा साध्वीगण थी सेवाता चरणकमलवाली चन्द्रयशा नाम नी महत्तरीकाने देवे स्वयं ज वसुमती समर्पित करी। अने ते महत्तरा साध्वीए पण आगम विधि वडे वसुमती ने दीक्षा आपी।

**हिन्दी अनुवाद :-** तब वसुमती ने बहुमान से उस वचन को स्वीकारा तथा बड़े वैभव से भाई के पास से आज्ञा लेकर उसी नगर में सुधर्म नाम के सूरिपुङ्गव के पास बहुत साध्वीगण की सेवायुक्त चन्द्रयशा नाम की महत्तर साध्वी को देव ने स्वयं अर्पित की और महत्तर ने भी आगमविधि से दीक्षा दी।

**गाहा :-**

सोवि सुमंगल-खयरो गुरु-रोसेणावि तेण देवेण ।

दट्ठूण दीण-वयणो न मारिओ कहवि हु दयाए ॥२४३॥

**संस्कृत छाया :-**

सोऽपि सुमङ्गलखेचरो गुरुरोषेणापि तेन देवेन ।

दृष्ट्वा दीनवदनो न मारितः कथमपि खलु दयया ॥२४३॥

**गुजराती अर्थ :-** ते देवे दीनमुखवाला सुमङ्गल विद्याधरने जोईने अत्यंत रोष होवा छता पण करुणाथी तेने मार्यो नहीं!

**हिन्दी अनुवाद :-** अत्यंत रोष होने पर भी सुमङ्गल खेचर का दीनमुख देखकर करुणा के कारण उसे मारा नहीं।

**गाहा :-**

नेऊण माणुसुत्तर-गिरिस्स परओ स उज्झिओ वरओ ।

अह सो तियसो पत्तो नियय-विमाणम्मि वेगेण ॥२४४॥

**संस्कृत छाया :-**

नीत्वा मानसोत्तरगिरेः परतः स उज्झितो वराकः ।

अथ स त्रिदशः प्राप्तो निजकविमाने वेगेन ॥२४४॥

**गुजराती अर्थ :-** मानुषोत्तरपर्वतनी पेली बाजु लई जईने ते बीचाराने छोड्यो, हवे जल्दीथी ते देव पोतान्ता विमानमां गयो।

**हिन्दी अनुवाद :-** मानुषोत्तर पर्वत की दूसरी ओर ले जाकर उस बेचारे को छोड़ दिया। बाद में जल्दी से वह देव अपने विमान में गया।

**गाहा :-** पसुमताना देवलोकमां उत्पत्ति

सावि हु वसुमइ-अज्जा समिई-गुत्तीसु सम्ममुवउत्ता ।

सज्झाय-ज्झाण-जुत्ता उज्जुत्ता विणय-करणम्मि ॥२४५॥

पुव्व-सय-सहस्साइं बहूणि काऊण पवर-सामन्नं ।

संलेहणाए सम्मं झोसित्ता<sup>१</sup> नियय-देहं तु ॥२४६॥

१. झोसित्ता = झूसित्वा, क्षीणं कृत्वा

अणुराय-वसा तं चिय झायंती सुर-वरं निह हियए ।

कय-अणसणा वसुमई कालं काऊण उववन्ना ॥२४७॥

ईसाण-नामम्मि बिइज्ज-कप्पे चंदज्जुणे दिव्व-विमाणयम्मि ।

देवस्स चंदज्जुण-नामगस्स चंदप्पहा नाम पहाण-देवी ॥२४८॥

चतुर्भिः कलापकम् ॥

संस्कृत छाया :-

सापि खलु वसुमती-आर्या समितिगुप्तिषु सम्यग् उपयुक्ता ।

स्वाध्याय-ध्यान-युक्ता-उद्युक्ता विनयकरणे ॥२४५॥

पूर्वशतसहस्राणि बहुनी कृत्वा प्रवर श्रामण्यम् ।

संलेखनया सम्यग् झूषित्वा निजकदेहन्तु ॥२४६॥

अनुरागवशात् तमेव ध्यायन्ति सुरवरं निजे हृदये ।

कृतानशना वसुमती कालं कृत्वोपपन्ना ॥२४७॥

ईशान-नाम्नि द्वितीय-कल्पे चन्द्रार्जुने दिव्यविमाने ।

देवस्य चन्द्रार्जुन-नामकस्य चन्द्रप्रभा नाम्नी प्रधानदेवी ॥२४८॥

गुजराती अर्थ :- हवे ते वसुमती साध्वी पण सारी रीते समिति, गुप्तिमां उपयोगवाली स्वाध्याय ध्यानमां युक्त, विनय करवामां तत्पर, घणा लाख पूर्व सम्यक् रीते चारित्रनुं श्रेष्ठ पालन करी ने तथा संलेखना द्वारा पोताना देहने सारी रीते सुकावीने क्षीण करीने अनुरागवशाथी पोताना हृदयमां ते ज श्रेष्ठ देवनुं ध्यान करती करेला अनशनवाली वसुमती काल करीने ईशान नामना बीजा कल्पमां चन्द्रार्जुन नामना दिव्यविमानमां चन्द्रार्जुन नामना देव नी चन्द्रप्रभा नामे मुख्य देवी रूपे उत्पन्न थीं!

हिन्दी अनुवाद :- (साथ में) अब वह वसुमती साध्वी भी अच्छी तरह से समिति-गुप्ति में उपयोगवाली, स्वाध्याय, ध्यान में युक्त एवं विनयादि गुणों में तत्पर - बहुत लाख पूर्व अच्छी तरह से चारित्र का श्रेष्ठ पालन करके तथा संलेखना द्वारा अपने देह को क्षीण करके - अनुराग से हृदय में वही श्रेष्ठ देव का ध्यान करती हुई अनशनवाली समय आने पर - ईशान नाम के दूसरे कल्प में चन्द्रार्जुन नाम के दिव्य विमान में चन्द्रार्जुन नाम के देव की चन्द्रप्रभा नाम की मुख्य देवी बनी।

गाहा :-

साहु-धणोसर-विरइय-सुबोह-गाहा-समूह-रम्माए ।

रागगिग-दोस-विसहर-पसमण-जल-मंत-भूयाए ॥२४९॥



एसोवि परिसमप्यइ वसुमइ-सुरलोय-पावणो नाम ।

सुरसुंदिर-नामाए कहाए छट्टो परिच्छेओ ॥२५०॥

संस्कृत छाया :-

साधु धनेश्वरविरचितसुबोधगाथासमूहस्यायाः ।

रागाग्नि-दोष-विषधर-प्रशमन-जलमन्त्रभूतायाः ॥२४९॥

एषोऽपि परिसमाप्यते वसुमती सुरलोकप्रापणो नामा ।

सुरसुंदरि नाम्न्याः कथायाः षष्ठः परिच्छेदः ॥२५०॥

गुजराती अर्थ :- धनेश्वर मुनि द्वारा बनावेली, सारी रीते बोध-पामी शकाय तेवी गाथाओना समूहथी मनोहर, राग रूपी आग तथा द्वेष रूपी विषधर ने शान्त करवा माटे अनुक्रमे जल अने मन्त्र समान सुरसुन्दरी नामनी कथानो वसुमतीने देवलोकनी प्राप्ति रूप आ छट्टो परिच्छेद पण सारी रीते समाप्त थयो।

हिन्दी अनुवाद :- अच्छी तरह से बोध हो सके वैसी गाथा के समूह से रम्य, साधु धनेश्वर द्वारा रचित एवं राग रूपी आग तथा द्वेष रूपी विषधर को शान्त करने के लिए- अनुक्रम से जल और मन्त्र समान - सुरसुन्दरी नाम की कथा का वसुमति के देवलोक की प्राप्ति रूप यह छठवाँ परिच्छेद भी समाप्त हुआ।

॥षष्ठः परिच्छेद समाप्तः ॥ छ ॥१५००॥



# NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



## **ONLY NUWUD<sup>®</sup>**

### INTERNATIONALLY ACCLAIMED

*Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings*

### DESIGN FLEXIBILITY

*flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of*

### VALUE FOR MONEY

*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF*



Registered Head Office :  
20/6, Mahura Road,  
Faridabad-121006,  
HARYANA.  
Tel: +91 129 230400~6,  
Fax: +91 129 5061037.



*The one wood for  
all your woodwork*

#### Marketing Offices

**Ahmedabad** : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G. Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26486585. **Banglore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Banglore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A, 4<sup>th</sup> Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970680, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794. **Kerala** : 33/1560-G, Chakkaparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028. Tel: 0484-3969454, 3969452. **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1<sup>st</sup> floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 0141-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2<sup>nd</sup> Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2<sup>nd</sup> floor, Ashoka Mall, Opp Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.